TO THE READER

KINDLY use this book very carefully. If the book is disfigured or marked or written on while in your possession the book will have to be replaced by a new copy or paid for. In case the book be a volume of set of which single volumes are not available the price of the whole set will be realized

COLLEGE LIBRARY

Class No. 891.433

Book No. A53Ye

Acc. No. 11419

# ये, वे, बहुतेरे

[ कवि की नवीन कहानियों का संकलन ]

آنچل

ANC अंचल HAL

[illegible]

[ ...थम संस्करण ] सन् १९४१ [ मूल्य ]

व्यवस्थापिका—रामकली देवी
साहित्य-निकेतन
दारागञ्ज, प्रयाग

11419

मुद्रक
माधो प्रिन्टिङ्ग वर्क्स,
१७६, बैरहना
इलाहाबाद

This book is indeed a fine book. Everybody must read it.

Written by

श्रद्धेय

पंडित श्रीनारायण चतुर्वेदी

एम० ए० (लन्दन)

को

सविनय समर्पित

Dear friends

You must read this book And after reading you can feel that what a woman can do in the world.


१—जीवन के बीच में १

२—आत्म-हन्ता १५

३—सुलेखा ३३

४—तब और अब ५३

५—अन्तिम झाँकी ७५

६—एक रात ९३

७—भूल न सकूँ ११९

८—हत्यारा १२४

صاحبان......

میں یہ بتانا چاہتا ہوں کہ [illegible] کتاب میں عشق و (love)
ہی love ہے۔ ایسی کہتا ہوں سے [illegible] کہ بتادا تو پکا (......)
ہوتا ہے۔

# जीवन के बीच में

About this story

یہ کہانی بڑی دلچسپ ہے۔

میں نے یہ [illegible] کہانی پڑھی۔ اور میں [illegible]
[illegible] کہ یہ کہانی بہت ہی
دلچسپ ہے

कहानी मेरी है, मगर उसके सर्वस्व तुम हो। जीवन मेरा है, उसके पाप-पुण्य, सुख-दुख का लेखा मैं दूँगी, मगर उसके कर्ता तो तुम्हीं हो। विनाश मेरा है, पतन मेरा हुआ है और उसके अंजाम मुझे भोगने हैं, परन्तु दिल में तुम्हारी तस्वीर जो कसकती है। एक विचित्र-सी बात है न!

संसार में आने के पहिले, मैं क्या और कहां थी, और कैसे रहती थी यह तो कुछ नहीं जानती; परन्तु तुमसे मिलने के पहले मैं कैसी

थी और किस तरह ज़िन्दगी के कच्चे दूध से धुले सफेद रास्तों पर चल रही थी, यह तो अब भी ज्यों का त्यों याद है। आज ज़िन्दगी की नङ्गी कटुता और वीभत्स छलनाओं से घिरी, मैं असमय में ही जैसी निस्सहाय और निरुद्देश्य सी हो गई हूँ, ऐसी उस समय तो नहीं थी। आज जब जीवन का वह बीते स्वप्न-सा युग याद आता है तो लगता है—जैसे मैं असमय में बुझ गई। मैं जो दीप-शिखा की तरह प्रकाश फैला सकती थी और आग लगा कर भस्म भी कर सकती थी। जीवन का यह सब तो तब अपरिचित था। आज दोपहर की गर्म बालू की तरह जलने वाली आँखे और गर्म साँसों में लू भरने वाली अन्तर की आग पीने में मैं असमर्थ हूँ। ज़हर का यह लबरेज़ प्याला आज मुझसे तो नहीं पिया जाता। मैंने भी जीवन देखा है। मैंने भी क़ुरबानी का सुख उठाया है। किसी के ऊपर लुट कर, मिट कर और अपने को खोकर। आज भले ही वह समाँ आँखों को स्वप्न-सा लगता हो जब दिल की आरती की सब बत्तियां एक साथ जल उठती थीं। आज भले ही वह मिठास, वह उन्माद, वह सुख एक अशान्तिमय ज्वाला में छन चुका हो। परन्तु मैंने भी जीवन देखा है। मैं कैसे इतने बड़े सत्य को छिपाऊँ? मैं कैसे भूल जाऊँ कि नारी का समर्पण जिसे मैं आज अपने में छिपाती फिरती हूँ उस समय मेरे प्रत्येक अङ्ग से छलकता था? तुम आज न जाने कहां हो? जैसे नाटक का एक पार्ट करने के लिए ही तुम मेरी ज़िन्दगी के स्टेज पर आये थे और फिर वैसे ही बेलौस और निर्लिप्त चले गए। लेकिन मैं तो ख़त्म हो गई।

तुम एक बड़े ज़मीन्दार के इकलौते लड़के थे। वैभव और विलास में आकण्ठ डूबे हुए। तुम्हारे जूठन के लिए भी न जाने कितने लोग उत्सुक रहते थे। मैं एक अहीर की लड़की थी। गांव में पली, पढ़ी और गांव से ही परिचित। होस्टल में तुम रहते थे और मेरा गाँव वहां से तीन मील पर था। कभी-कभी जब मैं अपने बापू के साथ दूध देने आती तो मेरी हिम्मत भी न पड़ती थी कि मैं तुम्हारे कमरे में पैर रख सकूँ। रङ्ग-विरङ्गे पर्दे और काँच के चमकते हुए सामान, ये सब मुझे किसी जादू के लोक से लगते थे। बचपन में गांव की पाठ-शाला में पढ़ी किताबों की 'परियों की कहानियां और उनके देश' याद आते थे। तुम जब पलँग पर पड़े अपनी नशीली आँखों से मेरे अङ्ग-प्रत्यङ्ग को देखने लगते तो मैं एक ठण्डी-ठण्डी सिहरन से भर जाती।

मुझे याद आ रहा है। जाड़े की एक सुबह थी। मैं अपने बापू के साथ दूध देने आई थी। तुम्हारे रूम के दरवाज़े के पास ही सिकुड़ कर खड़ी हो गई थी। उस दिन बड़ी भयङ्कर सर्दी थी। तुम्हारा कमरा बिजली के चूल्हे से गर्म था। मैं बाहर खड़ी अपने नीले पड़े शरीर में दुबकी जा रही थी। तुमने पुकार कर अपने नौकर से कहा था—देख इस ग्वाले की लड़की को यह पुराना कम्बल दे दे।

मैं औरत थी न! हृदय में उसी समय एक मिठास-सी पैदा हो चली। मेरा भी कोई है—मेरे ऊपर भी कोई रहम की निगाह फेंक सकता है। रह-रहकर दिल में यही हिलोरें उठती रहीं। कम्बल को लेकर जब मैं लौटी तो रास्ते भर तुम्हारा मोहन रूप आँखों में उमड़ता

रहा। तुम्हारा देवता के समान सौन्दर्य जब मैं देखती तो बिक-सी जाती थी। उसी दिन मुझे यह भी ज्ञात हो पाया कि जैसा सुन्दर तुम्हारा कमनीय गात है वैसा ही हृदय है। वह कम्बल कहने के लिए तो पुराना था; परन्तु था बिलकुल नया। मैं एक असह्य अभिमान से फूल-फूल कर खिलती हुई घर चली आई। मेरी सहेलियों ने उस कम्बल को सतृष्ण नेत्रों से देखा। और उनमें से एक ने जो कुछ बड़ी भी थी एक अर्थ भरी हँसी हँस कर कहा था—ख़ूब गरमाया करेगी चम्पा ! तू इस कम्बल में।

इसके बाद मैं अक्सर तुम्हारे यहाँ जाती। मैं गरीब घर की लड़की मेहनत-मजूरी में ही मेरा सारा दिन बीत जाता; लेकिन जिस दिन सुबह अपने बापू के साथ जाकर मैं तुम्हारा रूप देख आती उस दिन तो मैं दिन भर इधर-उधर के सुनहले स्वप्न ही देखा करती। कभी देखती—तुम मेरी झोपड़ी में आ गए हो और तुमने मुझे आज्ञा दे दी है कि मैं तुम्हारी पूजा करूँ—मैं जङ्गल से करौंदे के फूल चुनचुन कर ला रही हूँ और तुम्हें माला बना कर पहना रही हूँ—तुम देवता के समान महान, ख़ामोश और पाषाण, मेरी पूजा स्वीकार कर रहे हो। कभी मैं देखती—मैं गाय के ताजे दूध से तुम्हारे पैर धो रही हूँ और तुम मुझे एक विचित्र दृष्टि से देखते हुए, मुझे आशीष दे रहे हो। इसी प्रकार न जाने कितने दिवा-स्वप्न मैं देख जाती। कभी देखती—तुम अपनी बहू के साथ बैठे बातें कर रहे हो—ठीक वैसी ही बातें जैसी नये पति और पत्नी में रस की घड़ियों में होती हैं और मैं कुछ दूर पर

खड़ी तुम्हारे पलँग पर फूलों की सेज बिछा रही हूँ। परन्तु एक बात जो तुम्हारे अभाव में भी मेरा पीछा न छोड़ती थी, वह थी तुम्हारी आँखों की शराब और चितवन का नशा। जैसे मैं बेसुध हो-होकर अपने को तुम्हें दिखाती और तुम घण्टों मुझे देखा करते। मुझे एक विचित्र सुख मिलता था। मेरा एक-एक रोम खड़ा हो जाता था और तपते हुए सूर्य की किरणों के नीचे भी मैं एक मीठी ठण्ड से काँप उठती थी।

तो क्या मैं तुम्हें प्यार करती थी? भला तुम जो मेरे लिए आकाश-कुसुम से थे, मेरी प्यार की परिधि में कैसे अँट पाते? पर मुझे एक नैसर्गिक विसर्जन का-सा सुख तो मिलता ही था। जैसे मेरे शरीर का सारा मांस, यौवन से भिदी सारी अङ्ग-सुषमा तुम्हारी ही हो।...... सहसा गमक-गमक कर तुम्हारे चारों ओर अपने को लपेट लेना चाहती थी कैसे वन की लता एकाएक अपने पास किसी सुघड़-वृक्ष को देखकर उस पर चढ़ने और लिपटने के लिए झूमने लगे।

सच बात यह है कि मैं भोरी न थी। दो तन का एक तन हो जाने पर जो अवर्णनीय और आँखों को मूँद देने वाला सुख मिलता है, उससे मैं अवगत थी; लेकिन तुमको देखकर, तुम्हें अपने से लगाने की कल्पना करके, मैं अपनी उन दो चार भूलों की ग्लानि से गड़-गड़ जाती थी। न जाने किन विस्मृति की घड़ियों में, शरीर की उठान की अभिव्यक्ति की बेहोश करने वाली बेचैनी में मैंने वे काम किये थे और अब उनकी याद भी जब आ जाती थी तो मैं सङ्कुचित होकर अपने

SRI PRATAP COLLEGE

चारों ओर देखने लगती थी। गोया तुम पास ही खड़े हुए कहीं मेरे जीवन का यह काला पहलू देख तो नहीं रहे !

घीसू मेरे पड़ोस में रहने वाला मेरी बिरादरी का लड़का था। एक दिन रात को वह मेरी कोठरी के पीछे वाली खिड़की के पास आकर फुसफुससाया—चम्पा !

रात एक पहर से ज्यादा जा चुकी थी। मैं कुछ-कुछ ऊँघ रही थी। चौंककर खड़ी हो गई। स्वर तो उसका पहचाना हुआ था: परन्तु तस्वीर तुम्हारी ही आंखों के सामने घूम गई। मैंने कहा—कौन ?

ऐसा करने में इसके पहले कई बार मुझे सुख भी मिला था; परन्तु अब तो मैं एक देवता की उपासिका थी। भले ही मेरी उपासना में वासना रही हो; परन्तु थी तो वह देवता के लिए। आज मैं कैसे बाहर निकल कर उसकी कोठरी में जा सकती थी ? मैंने कहा—नहीं, मैं नहीं आती, तुम चले जाओ।

घीसू—आज यह रूपक करेगी। उठ-उठ जल्दी चल।

मगर मैं चुपचाप आकर अपनी खटिया पर लेट चुकी थी। उसकी बातें भी सुनने में मुझे जैसे लाज लग रही थी। सच तो यह है कि अपने देवता की काल्पनिक मूर्ति के सामने मैं कुमारी ही बनी रहना चाहती थी। इसके बाद मुझसे घीसू ने बोलना छोड़ दिया। दुलारी जिससे वह पहिले बात भी न करता था, अब उसकी सब कुछ हो गई। मैं सब समझी; परन्तु मुझे क्या ? मैं तो अब सबसे दूर हो-होकर जैसे तुम्हारे ही पास रहना चाह रही थी।

# अंचल

उस दिन होस्टल में शाम को भी दूध पहुँचाना था। एकाएक बापू को ज़ोरों का बुख़ार आ गया। मैं ही घर में अकेली काम करने वाली रह गई। सब लोग बड़ी मुश्किल में पड़ गये। बीस सेर दूध पहुँचाना था। बड़ा ज़रूरी काम था। शाम का ख़ास आर्डर था। मगर बापू को इतने ज़ोर का बुख़ार था और जाड़ा लग रहा था कि उनका जाना नामुमकिन था। मैंने हिम्मत करके कहा—"कोई फ़िकर नहीं है। मैं दूध पहुँचा दूँगी" बापू ने काँपते हुए कहा—"चम्पा तू अकेली कैसे जायगी? शाम का वक्त है। लौटते-लौटते तो और रात हो जायगी। घीसू को साथ ले ले न।" मैंने कहा—कोई बात नहीं है। तुम फ़िकर न करो, मुझे डर नहीं लगता।

माँ-बाप को आश्वासन देकर मैं चली। रास्ते में तरह-तरह के ख्याल मन में आने लगे। मुझे तीन मील का रास्ता तय करना था, और लौटते-लौटते तो और भी रात हो जायगी। एकाएक तुम्हारी मूर्ति फिर आँखों के सम्मुख घूमने लगी। मैं जैसे अपने से चिपटी जा रही थी। साँझ के समय योंही न जाने मन में कहाँ-कहाँ की पीड़ा घनी होती जाती है। फिर मैं तो उस समय अपने को और भी निःसहाय देख रही थी। घर में कोई बहिन भाई नहीं। पिता अध-बूढ़ा और बीमार! माँ चिड़चिड़ी और आँखों के सामने आजीवन अपना भाग्य देखते रहने पर भी उसे न चीन्हने वाली। संसार में कहीं किसी ओर मेरा कोई नहीं। तुम अवश्य मेरे हो; मगर कितनी दूर। आकाश के प्रकाश-कुञ्ज नक्षत्र के समान ऊँचे और अलभ्य-असम्भव। मेरी जैसी न

जाने कितनी तुम्हारे यहाँ नौकरानियाँ होंगी, मेरी बिसात ही क्या ? मैं तो नाचीज़ थी। फिर भी मेरे दिल में एक मीठी-मीठी जलने वाली जो आग लगी थी उसे यदि तुम देख या सुन लेते, तो मुझको कितना बड़ा बोध होता ! रह-रह कर मेरे मन में एकाएक जो उच्छ्वास भर आते थे उनसे मेरी आँखे नम होती जाती थीं। उस समय सूर्य अस्त हो गया था और एक फीकी-फीकी सी कालिमा चारों ओर फैल रही थी।

मैं धावा मारे होस्टल की ओर आगे बढ़ती जा रही थी। सिर के के ऊपर २० सेर का दूध का घड़ा था। काफ़ी भारी था वह और उससे भी अधिक भारी था मेरा मन। उस समय रह-रह कर मुझे यही ख्याल होता था जैसे मेरे जीवन की गति अन्धी है। न जाने कब का बूँद-बूँद इकट्ठा दर्द मेरे अन्तर में उस समय उमड़ रहा था। मैंने मन की उस प्रचण्ड गति को रोकने के लिए सीटी बजाना, ज़ोर-ज़ोर से पैर पटक कर चलना और बीच-बीच में गीत गाना शुरू कर दिया। मैं जल्दी से जल्दी होस्टल पहुँच कर दूध देकर घरलौट आना चाहती थी, जानती थी कि जब तक लौट न आऊँगी तब तक घर में बापू वगैरह को चैन न आयेगी। मैं और जल्दी चल पड़ी। होस्टल के फाटक के पास पहुँचकर मैंने एक आराम की साँस ली। सिर पर से दूध का घड़ा उतार कर ज़मीन पर रख दिया और इधर-उधर एक बार भर-नेत्र देखा ! अपने अङ्ग-प्रत्यङ्ग पर मैंने एक मोह-भरी दृष्टि डाली। इसके बाद एक गहरी अँगड़ाई लेकर और हाथ-पैर की उँगलियां चटका

कर, मैंने अपने थके, सुस्त शरीर को चैतन्य किया। किस-किस कमरे में दूध दिया जाता था, यह सब मैं जानती थी। वहाँ जा-जाकर मैंने दूध दिया। कुछ बाबू लोग अपने कमरों में थे और कुछ नहीं थे। नौकरों ने दूध ले लिया। उनकी निगाहों का अर्थ जानती थी; परन्तु अब तो मुझे तुम्हारी ही वह दृष्टि चुभती थी। केवल तुम्हारी ही आँखों की वासना मैं बरदाश्त कर सकती थी। केवल तुम्हीं को अब मैं अपना तन दे सकती थी। तन देने की ज़रूरत नारी के जीवन में आती ही है। कदाचित् यही उसका सत्कर्म और धर्म है। समाज में यही उसकी उपयोगिता है। तुम्हारे देव-दुर्लभ मोहन स्वरूप का मेरे ऊपर यही प्रभाव पड़ा था। अब तन का देना मेरे लिए एक कौतूहल, एक रङ्गीन विनोद और एक गुड़िया बहलाने का सा साधन नहीं था बल्कि जीवन का एक परिष्कार था। अर्चना का संस्कार था।

अब तो मेरे तन और मन में, मन के एक-एक तार में तन के एक एक अङ्ग में, एक साथ आग लगती थी। तन की आग बुझाने वाले तो मुझे चारों ओर मिलते थे। शरीर की भूख तो उठती-उठती नारी अङ्ग को ही भस्म कर देना चाहती थी; परन्तु यह मन की आग तो दिल और दिमाग पर सन्निपात के विकार की तरह व्याप्त होती रहती थी। यह भी सच है कि शरीर की भूख तब मेरी दब-सी चली थी। तुम्हारी मूर्ति का ध्यान आते ही तब मुझे यह प्रतीत होता था जैसे मैं कुछ ऊपर उठ रही हूँ। मेरा मस्तक ऊँचा उठता जा रहा है। जैसे मैं एक साधारण अहीर की लड़की न होकर एक सम्भ्रान्त कुल की नारी

हूँ और तुम्हारे ही चरणों पर अपना सारा प्रेम और सारी निष्ठा, सारा सर्वस्वसमर्पण निवेदित करने के लिए पैदा हुई हूँ। मैं ऐसी ही स्वप्न-भरी बातों में उन दिनों डूबी रहती थी। सोते-जागते, उठते-बैठते प्रतिक्षण। वहाँ से दूध देकर मैं तुम्हारे कमरे के सामने आई। कमरा खुला था। तुम पलँग पर लेटे अनमने से इधर-उधर ताक रहे थे। मैंने दरवाजे की डेहरी पर खड़े होकर कहा—बाबू, दूध लाई हूँ।

तुमने मेरी ओर एक ठण्ढी निगाह से देखते हुए कहा—अच्छा।

मैं पाँच मिनट तक वैसी ही शान्त और निस्पन्द खड़ी रही और तुम मेरी ओर बराबर देखते रहे।

मैंने कण्टकित होते हुए साहस बटोर कर कहा—नौकर कहाँ है बाबू ?

तुमने कहा था—वह तो घर गया है। कमरे में इधर लोटा रक्खा है, उसी में दूध छोड़ दे।

लोटा तो कमरे में न इधर था न उधर। वह तो तुम्हारे पलँग के नीचे था। मैंने इतना सब एक ही निगाह में देख लिया था। कुछ-कुछ दबती, सिकुड़ती और एक अर्द्धज्ञात और अज्ञात आशङ्का से भ्रान्त तुम्हारी सेज के पास आकर और नीचे झुक कर लोटा निकालने लगी। तुम स्नेहपूर्वक मेरी पीठ पर हाथ फेर चले। मेरा एक-एक रोम सुख से जैसे चीत्कार कर उठा। यही तो मेरे जीवन का स्वप्न था, यही तो मैं चाहती थी। इससे अधिक की आवश्यकता और आशा मुझे उस समय कहाँ थी ?

मैंने लोटा उठा कर टेबिल पर रख दिया और दूध नाप कर छोड़ने लगी। तुमने मेरा दूसरा हाथ अपने हाथ में लेकर कहा—तुम्हारा नाम चम्पा है न!

'हाँ।'

'तुम हो भी बिल्कुल चम्पा जैसी। आज तुम अकेली आई हो न!'

'हाँ।'

'क्यों?'

'बापू बीमार हो गये हैं।'

'होस्टल में और सब कमरों में दूध दे आई।'

'हाँ।'

'लौटने की जल्दी तो नहीं है?'

मैंने अपनी दोनों झुकी हुई आँखें ऊपर उठा कर कहा—कहिये, आपका मतलब क्या है?

तुमने एक मीठी और विश्वास उत्पन्न करने वाली हँसी हँसते हुए कहा था—कुछ नहीं, तुमसे दो-चार बातें करनी थीं। आज मैं बड़ा दुःखी हूँ। अपना दुःख किसी से कहने से हलका हो जाता है न!

मैं भी तुम्हारे दुःख के कण्ठावरोध से सजल हो उठी। मेरे बाबू को दुःख है। आज उनका चेहरा भारी है। घर से शायद आज कोई दुःखद समाचार आया है। मेरा जीवन तो धन्य हो जायगा यदि मैं उनके पास बैठ कर, दो घड़ी उनकी बातें, दुःख की चर्चा सुन कर उनके मन का बोझ हलका कर सकूँ। मैंने ज़मीन पर बैठते हुए कहा—

आप कहिए। मैं सब दूध दे आई हूँ। एक-आध घण्टे पीछे ही चली जाऊँगी।

'मगर दरवाज़ा तो बन्द कर दो चम्पा, कोई देख लेगा तो?'

'कोई देख लेगा तो', इतना सुन कर मुझे एकाएक अपने नारी अङ्ग का ध्यान आया। बाबू के साथ मुझे बैठे देख कर सिवाय उस नतीजे के कोई और कहाँ पहुँच सकता है? मानो मेरा सारा उपयोग और इस्तेमाल केवल यही है। मुझे और किसी रूप में कोई पुरुष व्यवहार ही नहीं कर सकता।

मैंने चुपचाप सिहरते, काँपते जाकर दरवाज़ा बन्द कर दिया। ज़मीन पर बैठ गई। तुम चारपाई पर लेटे-लेटे न जाने कितनी बातें करते रहे। मैं क्रमशः आत्म-विभोर हो उठी। और जब जगी तो अपने को बहुत कुछ खो चुकी थी। तन और मन दोनों मिटते आते थे।

और आज! आज तो तन बेंच-बेंच कर दो-दो, चार-चार आने पैसे लेते भी लाज नहीं लगती।

× × ×

सहसा उसका मन और दूध भरे स्तन दोनों दुखने लगे। सोता हुआ बच्चा चौंक कर जाग पड़ा। वेश्या माँ ने उसे उठा कर चूम लिया।

340 must read this story.

This story is not so good.

یہ کہانی پہلے تو بالکل سمجھ میں نہیں آتی ہے

لیکن بعد میں یہ سب کچھ پتا چلتا ہے کہ یہ

کہانی کیا ہے आत्महन्ता اور کسی کے بارے

میں ہے۔ یہ ایک Love سٹوری ہے اور

اس کے پڑھنے میں بہت ہی مزا آتا ہے

انیس

मध्य-प्रदेश के एक्स्ट्रा असिस्टेन्ट कमिश्नर मि० के० सी० वर्मा कलकत्ते के रायल होटल में अपने कमरे में मरे हुए पाये गये।

यहाँ पर कुछ खुलासा कहना होगा। मि० के० सी० वर्मा चार मास से छुट्टी पर थे। उनकी अवस्था २८ वर्ष की थी। वह अकेले यहाँ आये थे और रायल होटल में ठहरे थे। आज सुबह होटल का बैरा जब चाय और जलपान लेकर गया तब वे चारपाई पर मृत पड़े पाये गये। उनकी देह बर्फ के समान ठंडी थी—जैसे माघ-पूस की नम्र रात। उनके चेहरे पर भीषण अशान्ति थी मानों आत्महत्या

करते समय भी उनके हृदय में शान्ति नहीं थी। थी केवल भीषण हलचल और उसी को लेकर वे सदा के लिये सो गये। वे नवयुवक थे। घर में पिता हैं, माता हैं, बहन हैं, छोटे भाई हैं—वे अभी अविवाहित ही थे। उन सबकी क्या दशा होगी ! पिता-माता स्नेही-सम्बन्धी सब कह-कह कर हार गये; लेकिन उन्होंने विवाह नहीं किया।

लोग उनका जीवन, रहन-सहन देखकर हैरान थे। यह आदमी तीन बजे रात तक जागता रहता है—और फिर दस बजे तक सोता है। वह भी चारपाई पर नहीं; वरन आराम कुर्सी पर। कभी दो-दो तीन-तीन दिन बीत जाते हैं, भोजन ही नहीं करता। जब शराब पीना आरम्भ करता है तब हफ्तों नशे में ग़र्क रहता है, नहीं तो सालों नहीं छूता। पढ़ता है तो दस-पन्द्रह दिन पढ़ा ही करता है, नहीं तो फिर अख़बार भी नहीं देखता। कभी किसी ने हँसते नहीं देखा—कभी किसी ने रोते नहीं देखा।

कभी-कभी ऐसा भी होता कि दो-तीन दिन बीत जाते, खाना भी न खाता। तब हैरान होकर नौकर-चाकर माता-पिता को खबर देते। वे हाँपते हुए आते, खिला-पिलाकर समझा-बुझाकर, डाँट-डपटकर भाग्य को कोसते लड़खड़ाते हुए चले जाते। जब कई रातें बीत जातीं और पल-भर को भी न सोता तब नौकर कुढ़ते हुए जाकर माता-पिता से कहते। वे आते डाक्टर को साथ लेकर। डाक्टर इनसामनिया की दवा देकर चला जाता। पिता के चले जाने के बाद वह दवा की शीशी सड़क पर फेंक देता और रात को गहरी नींद में सोता।

इधर कई महीनों से उनका जीवन और भी अनियमित और उच्छृङ्खल हो उठा था। उनके पिता ने यह देखकर उन्हें चार महीने की छुट्टी दिलवाई और साथ में नौकर को रुपया-पैसा देकर यात्रा के लिये भेज दिया। बम्बई, मद्रास, मैसूर और हैदराबाद घूमते हुए वह एकदम से कलकत्ते आ गये और यहाँ आने के ठीक आँठवें दिन, आज सुबह अपने कमरेमें मरे पाये गये।

धर्म को नहीं मानते थे। ईश्वर को मूर्खता का पुतला कहते थे। साथ ही समाज, जीवन और जगत के किसी भी बन्धन को सदैव ठुकराते चलते थे। न जाने कितनी किताबें पढ़ी थीं—कितना साहित्य धँसी हुई आँखों की पुतलियों के नीचे उतार दिया था; लेकिन बाहर से देखने में वही शून्य—महाशून्य।

लोगों ने नौकर से पूछा—पुलिस ने होटल के कर्मचारियों से जिरह की। लोगों ने यही कहा—कल शाम से उदासीन थे—आँखें भरी हुई थीं—पुतलियाँ जल रही थीं—ओठ भभक रहे थे। सारा शरीर झंकृत हो रहा था, जैसे टूटा सितार हो। सुबह थोड़ी-सी पी थी। दोपहर को सो गये थे। शाम को फिर थोड़ी-सी पी और टैक्सी पर बाहर निकल गये। रात को ११ बजे आये। कमरे में जाने पर खाना भेजा गया; मगर वापस कर दिया। शराब की बोतलें तोड़ डालीं—गिलास खिड़की के बाहर फेंक दिये। तीन बजे रात तक जागते रहे। नौकर भी बाहर बरामदे में पड़ा रहा। तीन बजे जब उसकी आँख खुली तो देखा—

कमरे में टहल-टहलकर प्रज्ज्वलित हो रहे हैं। उसने कहा भी—साहब, सो जाइये अब। बोले—हाँ, अब सोता ही हूँ। कै बजे होंगे ?

नौकर—तीन का घन्टा अभी सुना था।

चौंककर बोले—अरे, तीन बज गये ! मैं अब तक नहीं सो पाया। अच्छा बत्ती बुझा दे—दरवाज़ा बन्द कर दे।

इसके बाद उसने कहा कि जब सुबह वह जागा तब उसने दरवाज़ा खोलना ठीक न समझा। वह उठा तो यह समझकर कि अभी तो ये ९-१० बजे तक सोयेंगे, घूमने चला गया। लौट आकर यह सब देखा। साहब ने ज़हर कब पिया और कब उनका हार्टफेल हुआ, यह वह कुछ नहीं जानता। लेकिन रोता है—रोते-रोते उसकी हिचकी बँध गई है। बड़े बाबू को वह कौन-सा मुंह दिखायेगा। उसी के 'चारज' में तो उन्होंने अपने साहब लड़के को छोड़ दिया था। नहीं, माजी से वह कैसे मिलेगा, जो साहब की खास खबर रखने के लिये उसे हर महीने १० रुपए अलग अपने पास से देती हैं। फिर वह यह भी सोचता है कि भगवान को कैसे मुंह दिखायेगा। वह सोता ही रहा—उसके साहब सदा के लिए चले गये।

घर तार दे दिया गया है। माता-पिता भाई-बहन सब आ गये हैं। रोते-रोते सबकी आँखें फूट गई हैं, गाल नीले पड़ गये हैं—सिर जल रहा है। इस सत्यानाशी विस्फोट से सब के प्राण भस्म हो चुके हैं। पिता ने आर्त्तनाद करते हुए क्रिया-कर्म किया। माता विक्षिप्त होकर

चिता में कूद पड़ीं—वृद्ध शरीर झुलस गया। भाई-बहन अपने चीत्कार से होटल को व्याप्त और सजल करने लगे। मित्र सीने में इतना बड़ा घाव लेकर जीवन के इस नग्न सत्य की साक्षी देने लगे। जिसने सुना-देखा-समझा उसी ने कहा—ईश्वर ऐसा दुःख सातवें दुश्मन को भी न दें। किसी के स्वर्ण-नीड़ में ऐसी विध्वंसमयी आग न लगे। आह ! यह मोतियों से भरी जवानी माता-पिता के सामने इस प्रकार भी मिट्टी में मिलती है !

[ २ ]

लेकिन कहानी जहाँ समाप्त हो गई वहाँ से तो मैंने आरम्भ किया है और जहाँ से आरम्भ होनी चाहिये वहाँ से अब……।

गाँव की घनी छायावाले बरगद और पीपल के वृक्षों के नीचे वे मिलते, खेलते-कूदते, हँसते-रोते और एक दूसरे से लिपट भी जाते। पल-भर के लिए शरद की दोपहरियों में विश्व का रव-शून्य महाप्राण भी चंचल हो उठता था। उस समय वही अवस्था थी, जब आँखों में कोई तरल मोती कूटकर भर देता है। दोनों हँसा ही करते। कभी किसी ने अलका या कपूर को रोते नही देखा। दोनों के प्राणों में एक गति थी-एक महागति थी। महाकाश की-सी नीलिमा, महासागर की विराट मधुरिमा उनके भोले प्राणों में क्रीड़ा करती रहती थी। बरसात की नदी जब अपने दोनों किनारों को छापकर आगे बढ़ती तब उन दिनों उनके प्राण भी उसकी कल-कल मुखर द्रुतधारा के साथ समुद्र-तट तक जाने के लिए व्याकुल

हो उठते थे। जिस समय उल्कापात बहाती हुई आँधी चलती उस समय उसी के साथ-साथ जाकर, सृष्टि के अतल-वितल में घूम आने की उनकी लालसा जल-जल उठती थी। वे, एक महाध्वनि की प्रतिध्वनि के समान सुखपूर्वक एक-दूसरे के ऊपर गिर-गिर पड़नेवाले दिन, बचपन के थे। वह मदभरा बचपन था—कलरव और कोलाहल, क्रीड़ा और चपलता, आशा और अभिलाषा से लदा हुआ।

इसके बाद उन्माद लुटाती हुई जवानी आई। दोनों ने एक-दूसरे को देखा और समझा। नर-नारी के चिरन्तन, अग्निभरे अमिट सौन्दर्य सम्बन्ध को समझा और जाना। कपूर को मालूम पड़ता, जैसे अलका की अपनत्व भरी वाणी उसके अंगों को परिपूर्ण-सा किये देती है और अलका? उसे तो यह मालूम पड़ता था कि मानों उसके यौवन-प्लावित लावण्य-कुञ्ज में एक अन्धड़ की सहेली—उन्माद की लतिका-सी विचित्र प्रवृत्ति छा गई है जिसे वह कभी भी आँखों से ओझल नहीं कर सकती। शरद की ठंडी हवा चलने पर नस-नस में गर्म खून क्यों-लहराने लगता है? आकाश में नये बादलों को देखकर हृदय में बिजली की प्राणमयी धारा फूट पड़ती है। बसन्त की उद्दीपन-भरी मधु-लहरियों में हृदय का कोना-कोना तक आन्दोलित होकर हिल-हिल उठता है। पर यह सब उसने कैसी प्रिय विवशता के साथ सीख लिया। शोभा-पूर्ण सन्ध्या-काल में कल्पना के महासंगीत को सुनते-सुनते, गाँव की बढ़ी हुई नदी के तट पर अपने घरवालों से लुक-छिप कर जब वे दोनों आते और एक दूसरे से अपनी अनन्त यौवना की सी पिपासा

निवेदित करते तब दोनों के कोकाबेली के उज्ज्वल फूलों-से अंग इस प्रवाह में चिर संतप्त मीनों की भाँति डूबने-उतराने लगते। यौवन की सुबास से मस्त हो वे कुछ क्षणों के लिए एक दूसरे में अपने को विसर्जन कर देते थे।

चैत की खिली हुई चाँदनी उस दिन थी। अलका ने अपना शृङ्गार-सज्जित प्रकंपित गात कपूर के आगे रखकर सिहर-भरे अधरों से कहा था—मैं कल चली जाऊँगी। ठीक तुमसे ८०० मील दूर! अब मैं कब तुम्हें देख सकूँगी— नहीं जानती; लेकिन तुम अपना जीवन नष्ट न करना। पढ़ने-लिखने में मन लगाना और जाकर कालेज में नाम लिखा लेना। इस आवारा-गर्दी में यदि तुमने अपना जीवन नष्ट कर दिया तो मैं परमात्मा से भी ज्यादा पीड़ित होउँगी। मैं तुमसे छोटी हूँ। मैंने बहुत से अपराध भी किये होंगे; पर उन सबको आज माफ़ कर दो और यही आशीर्वाद दो कि जितना दुःख आज मिल रहा हैं उससे अधिक अब न मिले। मैंने तुम्हारी किसी किताब में पढ़ा था कि जीवन ईश्वर के साथ एक नित का अनन्त युद्ध है। आज से जीवन ईश्वर के साथ नहीं, अपने साथ एक चिर युद्ध हो जायगा। लेकिन, यहीं तो हम विवश हैं।

कपूर ने उस अग्नि-प्रवाह में सुलगते हुए कहा था—अलका, मैं आवारा और नालायक़ हूँ इसी से तो तुम्हारे पिता ने मेरे साथ विवाह नहीं किया। उन्हें यह नहीं मालूम कि तुम्हीं मेरी नालायक़ी और

आवारापन दूर कर सकती हो। खैर, इसके लिये मैं उन्हें या किसी को भी दोष नहीं देता। यह तो एक नाटक है। कभी सुखान्त हो जाता है—कभी दुःखान्त। मैं तुमसे झूठ नहीं बोलूँगा। तुमने तो कभी-न कभी यह अनुभव किया होगा कि कैसे तृष्णा का उल्लास सङ्गीत की भांति घिर कर नस-नस में नाचने लगता है। आज मैं अनुभव कर रहा हूँ कि वही तृष्णा मेरे जीवन को सोख लेगी। और मुझे ले जाकर न जाने कहाँ—शायद जहाँ से आई है वहीं—उड़ जायगी। तुम जावो और मुझे भूल जावो। यही मेरा आशीर्वाद है। लेकिन यदि कभी मेरी याद आ आजाय, साल छः महीने में भी, तो अपने हृदय पर नाराज़ न होना। न तो उसे प्रताड़ित करना और न अपने को अपनी दृष्टि में हीन समझना।

[ ३ ]

इसके बाद की एक और हसरत-भरी रात क्या कपूर जीवन-भर सुख या दुःख से भूल सका। वह रात कैसी थी ? बड़ी ही ज्वलन्त और लोलुप। रात को एक बजे अपने बिस्तर पर पड़ा कपूर मोमबत्ती के लहकते प्रकाश में शराब के नशे में चूर पाइप पी रहा था। वह अलका की बड़ी बहिन के यहाँ ऐसे ही इधर-उधर घूमता हुआ चला आया था। अलका भी वहीं थी। उसके पति अनूप और भाई देवराज भी थे। कपूर को नींद नहीं आ रही थी। हृदय जल रहा था। ओंठ जल रहे थे। नेत्र जल रहे थे। न जाने अन्तस्तल में

कैसी विनाश की ज्वाला वारुणी की विस्फोट-राशि के साथ-साथ धूधूकर रही थी। तो फिर मोमबत्ती के उजेले में कुछ तो उसके इस आत्ममरण का आभास किसी चिर परिचित को मिले।

उधर दूसरे कमरे में अलका की बड़ी बहिन खाना बनाने का प्रबन्ध कर रही थी। कल उनकी लड़की का अन्न-प्राशन था। सब लोगों के लिये खाना बनाना था। कपूर के बगल के कमरे में अलका के पति और तीसरे कमरे में भाई पड़े थे। सहसा कपूर उठ बैठा और लड़खड़ाते हुये चला आया सीधा औरतों के बीच में।

'दीदी, बड़ी प्यास लगीहै।'

'अभी सोये नहीं हो मुन्ना ! क्या बात है ? क्यों नींद नहीं आरही है ? सोजा बेटा ! (पुचकार कर) कल सुबह जल्दी उठना है । ५ बजे चलोगे नहीं मंदिर तक। तुम्हारी भाञ्जी का अन्न-प्राशन है।'

अलका ने भी झूमती हुई आँखों में करुणा की सजल विद्युतधारा बहाते हुए कहा—भैया को 'किसी की' याद आ रही है। अभी तो रात को कोई गाड़ी जाती है न।

कपूर ने कहा—अलका, एक गिलास पानी तो दे दो।

अलका उठ खड़ी हुई—हृदय के सारे चीत्कार को धीरे से दबा कर। एक गिलास पानी लिया। तब तक कपूर अपने बिस्तर पर आकर लेट गया था। अलका ने पास आकर कहा—यह लो भैया, पानी ले लो।

अलका के सिर पर घूंघट था। कपूर ने कहा—अब तुम बड़ी हो गई हो न तभी तो घूंघट काढ़ना सीख गई हो।

'नहीं तो भैया! मैं तो वैसी ही हूँ। जैसे पहले थी वैसे ही अब हूँ। बड़ी कब और कहाँ से होगई?'

'अच्छा, तुम्हें कभी मेरी याद आती थी?'

'हां भैया, जब दादा की बैठक में जाती थी तब तुम्हारी तसवीर को देखकर ज़रूर एक मोह सजल हो उठता था। नहीं तो इस दुनिया में कौन किसको याद करता है और क्यों याद करे!'

उसी रात को ४ बजे कपूर की नींद एकाएक खुल गई। अलका अपनी धोती जँगले पर फैला रही थी—साथ ही गुनगुना रही थी—"मैं पापिन ऐसी जरी क्वैला भई न राख!"

कपूर ने अँगड़ाई लेकर कहा—कौन दीदी?

'नहीं तो, मैं हूँ भैया!'

क्या स्वर में ऐसा गीला विषाद, वेदना का ऐसा अनियंत्रित परन्तु मूक मौन सजग हाहाकार हो सकता है? मानों एक वाक्य में सारी मानवात्मा मुखरित हो उठी हो।

[ ४ ]

इसके बाद फिर कपूर की अलका से भेंट नहीं हुई। कपूर ने एम० ए० पास किया—ला किया और एक साल बैठे रहने के बाद डिप्टी कलक्टर भी हो गया। नौकरी पाते ही सीधा मध्य-प्रान्त को

चला गया, जहाँ उसके पिता थे। फिर तो अलका से मिलने का कोई अवसर ही नहीं आया। बीच-बीच में गाँव से उसके मित्रों के पत्र आते रहते थे। उनसे गाँव के हाल-चाल भी मिलते रहते थे। अलका भी साल दो साल में जब एक-आध बार गाँव आती थी तब उसे मालूम हो जाता था; लेकिन उसके लिये क्या। वह तो जिन सुदृढ़ बन्धनों में बँधा था वे मानों उसकी स्फूर्ति, चेतना और संजीवन को उसके प्राणों से निकाल-निकाल कर फेंके देते थे। इस बीच में उसके जीवन में कितना अकल्पित परिवर्तन हो गया था। उसकी अब यही इच्छा रहती थी कि किसी परिचित से कभी भेंट न हो। वह यदि चाहता तो एक-आध बार छुट्टी लेकर गाँव जाकर अलका को देख आ सकता था; लेकिन उसकी इच्छा ही न होती थी। जिस सृष्टि से वह अलग हो आया था उसके लिए उसके मन में न तो कोई लालसा थी और न जसमें भाग लेने की कोई उमंग। वह सोचता भी तो उधर सोचने की उसकी प्रवृत्ति ही न होती। सचमुच ही बड़ी कारुणिक जड़ता ने उसकी नसों को अभिभूत कर लिया था। वह स्वर्ग-मर्त्य-विप्लावनी उन्माद धारा—जो कपूर को सदैव, प्रतिपल एक उत्कट उत्कण्ठा और आकांक्षा से उजागर किये रहती थी, आज न जाने किस अविजानित मरु-पुञ्ज में सूखकर अपनी प्रगति की हल्की काली रेखाएँ छोड़ गई थी।

एक दिन कपूर ने अत्यंत पीड़ित होकर सुना कि अलका के पति ने उसे निर्वासित-सा करके गाँव में उसके पिता के घर में छोड़ दिया

है। न जाने क्यों वह उससे असन्तुष्ट होकर उसे अपने पास बुलाने से इन्कार कर रहा है।

एक दिन उसने जो सुना उससे तो उसके शरीर का रक्त उसकी छाती में शिला-संघात के समान एकत्र हो हो पछाड़ें खा खा कर टकराने लगा। अलका के पति आकर उसे कलकत्ते ले गये थे, वहीं उसे टाइफाइड हुआ और उसकी मत्यु हो गई। कपूर ने आज प्रथम बार अपने को जी भरकर दोषी ठहराया। यदि एक बार भी वह छाती फुलाकर आगे खड़ा हो जाता तो अलका को कौन इस जीवन से अलग कर सकता था। जब उसे रह रहकर यह सब याद आता तो वह भौंचक सा रह जाता। ओह! जो एक क्षण का, बचा खुचा थोड़ा सा कभी कभी मिलने वाला सुख था वह भी अब कितना मँहगा हो गया था। एक छोटी सी कहानी थी वह भी बीच में ख़त्म हो गई।

[ ५ ]

बम्बई, मैसूर और हैदराबाद से कलकत्ते आकर भी कपूर को कोई शान्ति न मिली। उसने इतना बड़ा शहर पहले और कहीं नहीं देखा था। लेकिन रोज़ उसके पिता उसकी तबियत का हाल पूछते और लम्बे लम्बे उपदेशों से भरे उनके पत्र उसके पास आते। यहाँ तक तो ठीक था; लेकिन मुसीबत तो यह थी कि उसे उनका जवाब भी लिखना पड़ता था। उसे यहाँ आकर एक नई आदत घूमने की पड़

गई थी। शाम को ५ बजे निकल जाता और कभी पैदल, कभी टैक्सी पर इधर उधर घूमा करता। यहाँ का प्रत्येक कोना, रास्ता, पदार्थ यहाँ तक कि प्रत्येक घर उसे अलका की स्मृति से चंचल और अनुप्राणित प्रतीत होता। आह! यदि वह होती तो, कम से कम एक बार तो वह उससे अवश्य मिलता। किन्तु, वह तो यहाँ नहीं है...वह तो कहीं नहीं है। वह तो अब अप्राप्त है...अलभ्य है।

कपूर को यहाँ आये आठ दिन हो गये थे। इतने समय में उसने प्रायः सारा कलकत्ता देख डाला था। आज उसने सोचा सोनागाछी की ओर जाने को। सोनागाछी कलकत्ते की सब से बड़ी रूप की मण्डी है।

सहसा उसने जो देखा वह प्राणों को कंटकित कर देने वाला था। यदि वह एक खम्भे की आड़ न ले लेता तो वहीं धम्म से गिर पड़ता। उसी ओर एकटक कई मिनटों तक देखते रहने के बाद कपूर की आँखों में खून की ज्वलन्त रेखाएँ नाचने लगीं। क्या आजतक इन आखों ने उसे पहचानने में कभी भूल की है? लेकिन वह तो मर चुकी है। सब लोग तो यही जानते हैं कि वह वहाँ चली गई है, जहाँ किसी की पहुँच नहीं है। वह कैसे विश्वास करे। वह प्रदीप्त मुख कण्डल से उन्मत्त; लेकिन लज्जा से कानों तक आरक्त हो जाने वाली कुसुम किशोरी सत्यानाशी कलकत्ते में व्यभिचार के जघन्य मण्डल में बैठी हुई प्रेम का अभिनय कर रही है।

## ये, वे, बहुतेरे

वह चला आया—प्रज्ज्वलित वक्ष और शुष्क अधर लेकर; उद्ग्रीव, आतुर और पीड़ाकुल। लेकिन सुख की लालसा से तीव्र उग्र उसके प्राण फिर न जाने कहाँ जाने के लिये तड़प उठे। चलूँ, वहीं चलूँ—लौट चलूँ—मर्मस्थल में नर्क का सारा अन्धकार लेकर। देखूँ जीवन का यह भीषण आवर्तन—महाचक्र का वह भयानक उद्गार! आह, वह सीन, वह झलक!

× × ×

इसके बाद खुली छत पर स्वच्छ नीलाकाश था - नीचे चरणों पर—उदधि-गर्जन का सा आत्म-दाह लिये एक हाहाकार-भरी नारी जो अब वेश्या बोली जाती थी और बीच में सन्तप्त वासना का स्पन्द-भरा एक एकाकी पुतला।

'भैया, तुम यहाँ क्यों आये? तुम तो अमरावती में थे?'

'योंही; तुम्हें देखने चला आया।'

प्राणों के दुर्दान्त आवेग को रोकते रोकते उसके नेत्र फट से गये। वह बोली...मानव संघर्ष के प्रबलतम भावों से तो तुम अपरिचित नहीं हो...तुम यहाँ कैसे आये!

मैंने तो सुना था कि तुम मर गई हो। मृत्यु के बाद का कैसा जीवन होता है यह कभी न देखा था; लेकिन अलका, क्या तुम पृथ्वी पर हो?'

'और कहाँ हो सकती हूँ ! मृत्यु जैसी महती शक्ति भी तो मुझे इस दुनिया से अलग न ले जा सकी। अभी मुझे बहुत देखना... तुम्हें बहुत कुछ दिखाना था।'

'लेकिन तुम इस जीवन में आई कैसे ?'

'जैसे और सब आती हैं। थोड़ी सी खुशी और थोड़ी सी विवशता से।'

'देखो अलका, तुम सारे संसार को धोखा दे सकती हो; लेकिन मुझको तुम धोखा देने की चेष्टा न करो। इसमें तुम्हें तो कुछ न मिलेगा; पर मेरा बहुत कुछ खो जायगा।'

'कुछ न खो जायगा। और यदि खो भी जायगा तो उसका खोना ही अच्छा। तो अब जा रहे हो ?...कल आओगे न ?'

'हाँ, अगर कल रहा तो अवश्य आऊँगा।'

दूसरे दिन चार बजे वह फिर वहाँ पहुँचा। देखा...कमरे में ताला बन्द है। पूछने पर मालूम हुआ कि आज सुबह से उसे भीषण फिट आ रहे थे। दोपहर में खून की कै होने के कारण दूसरी वेश्याओं ने चिन्तित होकर उसे अस्पताल पहुँचाया। अभी एक घंटे पहले उसकी मत्यु हो चुकी है।

कपूर एक क्षण के लिये भी विचलित न हो कर ज्यों का त्यों चला आया—स्पन्द हीन, मौन, जड़ और पत्थर।

× × ×

और बड़ी भयंकर घड़ियाँ होती हैं वे, जब मनुष्य का पिछला जीवन हृदय के अँधेरे अन्तस्तल में उतरकर किसी को ढूँढने लगता है। यदि एक उसी चेष्टा में छटपटा कर खून की कै कर सकता है तो दूसरा —अरे ! दूसरे को क्या कहा जाव ?

दूसरे दिन मध्य-प्रदेश के एक्स्ट्रा असिस्टेंट कमिश्नर मि० के० सी० वर्मा कलकत्ते के रायल होटल में अपने कमरे में मरे हुए पाये गये।

یہ کہانی بھی بڑی اچھی ہے

یہ پہلی اور دوسری کہانیوں سے بہت ہی دلچسپ ہے

رتن

# जुलेखा

[illegible]

[illegible]

[illegible]

संध्या सुन्दरी अलस मन्थर गतिसे गाँवके बाहर स्वप्न की भांति दूर-दूर तक फैले हुए खेतों और अमराइयों में उतर रही थी। अलबेली कृषक रमणियां और नवयौवना कुमारियाँ अपनी स्निग्ध उज्ज्वलता में दीपती हुई दिनभर के परिश्रम के उपरान्त हँसती-खेलती हुई मस्तानी चालसे गाँवकी ओर लौटी आ रही थीं। अन्धकार की डोलती हुई छाया में जुलेखा ने देखा—किसी ने आकर पीछे से उसके कन्धेपर हाथ रख दिया।

"कौन ?" जुलेखा ने कुछ चौंककर कहा।

"मैं"

जुलेखा ने देखा यूसुफ है।

"क्या बहुत थक गयी हो जुलेखा ?"

"नहीं तो" जुलेखा ने उत्कण्ठित होकर कहा।

"बहुत धीरे-धीरे चल रही थीं इसीसे मैंने पूछा; अगर कहो तो गोदमें उठा लूँ ?"

"ऐसी हलकी मैं नहीं हूँ यूसुफ" जुलेखा हँस पड़ी।

"खेत पर से आ रही हो क्या ?"

"हां ! अब्बा रातको वहीं रहेंगे ! उन्हें खाना ले गयी थी। तुम कहाँ से आ रहे हो ?"

"मैं अभी दिल्ली से आ रहा हूँ। मालिक से मिलकर सीधे तुम्हारी फिराक़ में निकला हूँ।"

"क्यों ?"

"क्यों ? क्या तुम यह नहीं जानती हो मेरी जान ! तुम्हें मैं कितना चाहता हूँ ! जबतक तुम्हें जीभरकर नहीं देख लेता, एक अजीब वहशत-सी सवार रहती है। मेरी दीवानगी की भी कोई हद है जो तुम पूँछती हो क्यों ?"

जुलेखा ने और भी गजब ढाते हुए भोलेपन से कहा—"अच्छा तो आप मुझे प्यार करते हैं क्या ?"

यूसुफ ने कहा—"तुमको भला कौन न प्यार करेगा ! जो तुम्हें देख लेता है वही तुम्हारे ऊपर मर-मिट जाता है। मैं ? मैं तो एक

अदना गुलाम हूँ। मेरी इतनी औकात कहाँ कि तुम्हें प्यार करूँ—कर सकूँ। लेकिन इतना जरूर है कि तुम्हें देखकर न जाने कितनी खुशी, कितनी आसूदगी, कितनी तसल्ली मेरे बेकरार दिलको हो जाती है।"

जुलेखा ने यूसुफ के कन्धे पर हाथ रखकर एक बार क्षणभर के लिए उसे अपने में मिला लिया और कहा—"तो फिर तुम मुझे क्यों नहीं अपने साथ ले चलते?"

"जरा ठहर जाओ। थोड़े दिन और सब्र करो मेरी प्यारी। इसके बाद मैं खुद तुम्हारे अब्बा से निकाह के लिए कहूँगा। मेरे छोटे मालिक दिल्ली से आ जाँय तो सब ठीक हो जायगा। वे खुद जब कहेंगे तब तो तुम्हारे अब्बा को कोई ऐतराज़ न होगा।"

"अच्छा! तो क्या वे जानते हैं?"

"हां! उनसे हमारी मुहब्बत की बात छिपी नहीं है। हमउम्र होने से मैं उनका उतना लिहाज भी नहीं करता।"

"तो वे कबतक आवेंगे?" जुलेखा ने बेचैनी से पूछा।

"बस अबकी ईद में! फिर तो सब ठीक हो जायगा। तुम हमेशाके लिए मेरी दौलत बन जाओगी।"

"सचमुच! मेरे यूसुफ! अब तो मेरी तबीयत हरवक्त एक बेचैनी, एक परेशानी में रहती है। जहां दो-चार दिन तुम न मिले कि मेरे दिलमें आग और लगी, तूफान चलने लगा। तुम्हारे साथ रहने में जितना मजा है, तुम्हारे बगैर उतनी ही बेचैनी, उतनी ही बेताबी है!"

## ये, वे, बहुतेरे

"मैं खुद जानता हूँ मेरी जान। जितनी मुहब्बत मुझे तुमसे है उतनी ही तुम्हें भी मुझसे है। मैं तो तुम्हें देखकर निहाल हो जाता हूँ। तुम्हारी यह प्यारी-प्यारी बातें, यह प्यारी प्यारी हँसी और यह मस्ती भरी निगाह मुझे एक मिनट के लिए भी नहीं भूलती। तुम्हारी खूबसूरती में गजब की क़शिश है।" कहते कहते यूसुफ ने उन्मत्त होकर जुलेखा को गले से लगा लिया और उसके लावण्य भरे मुखको चूम लिया।

"चलो हटो। तुम बड़े वैसे हो।" कुछ लजाकर जुलेखा ने कहा।

यह जिक्र दिल्ली के पास के एक गाँव का है। जुलेखाउसी गाँवके एक मामूली किसान की लड़की थी। दुबले, पतले, लचकदार अङ्गों में यौवन मानों फटा पड़ता था। यह कमसिन, खूबसूरती की मदभरी पुतली जिस समय इठलाती हुई चलती थी, गांव के लोग देखकर हैरान हो जाते थे। इस कम्बख्त करीम के यहाँ यह परी कहाँ से आ गयी। मोती जैसा रङ्ग, जिसके ऊपर यौवन का गुलाबी सरूर, मदभरी नुकीली आँखें और लाखों में एक निराला गठन। बस क़यामत का पूरा सामान था।

और यूसुफ था एक परदेशी नौजवान। न जाने कहाँ से भटकता हुआ उसी गाँव में आ गया था जब वह १२ साल का था। तब से गाँव के जमींदार के यहाँ नौकरी करता था और यहीं उसने जिन्दगी के पिछले आठ साल बिता दिये थे। जुलखा को दिलोजान से प्यार करनेवाला। उसके लिए सर्वस्व लुटा देने के लिए हमेशा उद्यत।

यूसुफ ने जुलेखा की बिखरी हुई ज़ुल्फों को लहराते हुए प्यार से कहा—"जुलेखा ! तुम कितनी हसीन हो ?" जुलेखा ने अपनी मदभरी चितवन को उसके मुखपर स्थिर करके कहा—"सच कहते हो यूसुफ।"

"हाँ प्यारी जुलेखा सच कहता हूँ। तुम्हें देखकर एक बार फरिश्ते भी मोहित हो जायंगे।"

जुलेखा ने कुछ मान-सा करके कहा,—"लेकिन फिर भी तो तुम मुझे प्यार नहीं करते। चार चार दिन हो जाते हैं, तुम्हारी सूरत भी देखने को नहीं मिलती।"

"क्या करूँ। मालिक दिल्ली भेज देते हैं, छोटे हुजूर के पास वहीं काम में लग जाता हूँ।"

"लेकिन यह कब तय होगा ? कब तक मुझे तुम इसी तरह तकलीफ दोगे ?"

"सिर्फ थोड़े ही दिन। इसके बाद तो हम तुम एक होकर, एकमें घुलमिलकर ज़िन्दगी का लुत्फ लूटेंगे, बस थोड़े ही दिनों की कसर है। इसके बाद हम लोगों की वस्लभरी ज़िन्दगी देखकर दुनियाँ भी हसद करेगी।"

"लेकिन सुनो तो," जुलेखा ने किञ्चित निष्ठुर होकर कहा—"यदि मेरा निकाह किसी दूसरे के साथ हो जाय ? यदि मैं कहीं और चली जाऊँ तो ?"

"तो तुम देख लेना, सुन लेना कि यह दीवाना यूसुफ भी या तो तुम्हारे पीछे गुलाम की तरह, कुत्ते की तरह घूमेगा। जहाँ-जहाँ तुम

रहोगी, वहीं यह भी अपने दिन बितावेगा या फिर यह उस अनजान मुल्क को चला जायगा, जहाँ से कोई आज तक लौट कर नहीं आया। शायद कोई जानता भी नहीं उसे"

"तो यों कहो, तुम मुझे दुनिया की निगाहों में गिरा दोगे। मेरे शौहर के दिल में भी शक पैदा कर दोगे।"

"हरगिज नहीं मेरी जान। तुम कैसी बात कहती हो? मैं तो तुम्हारा गुलाम बन कर रहूँगा। तुम्हारी एक-एक सांस पर अपने को कुर्बान कर दूँगा। जहाँ तुम्हारा पसीना गिरेगा, वहाँ अपना खून बहा दूँगा। और तो किसी लायक हूँ ही नहीं। बस यही कर सकता हूँ और इसमें तुम अपने इस नाचीज़ ख़ादिम को कभी पीछे न देखोगी।"

जुलेखा ने मन-ही-मन फूल कर, लेकिन कुछ मज़ा लेते हुए कहा—"तो यह कहो कि तुम सचमुच मुझसे मुहब्बत करते हो। मैं तो समझती थी कि तुम ऊपरी मन से यह कह रहे हो।"

"अरे नहीं जुलेखा! कभी अपने मन में ऐसा ख्यालभी न लाना। खुदा गवाह है कि मैं तुम्हें कितना प्यार करता हूँ। तुम एक तरफ और दुनिया, लोक, परलोक, जन्नत एक तरफ। तुम मेरे दिल की रानी हो, मल्का हो, मेरी जान हो। जब चाहो आजमा लो। हमेशा मुझे अपने क़दमों पर निसार पावोगी।"

जुलेखा का एक-एक रोम पुलकित हो उठा। हर्ष तरङ्गित वक्षस्थल फूल उठा और उसने यूसुफ की चौड़ी छाती में अपना सिर छिपाते हुए

कहा—"नहीं मेरे राजा ! मुझे यकीन है तुम पर, तुम्हारे दिल पर, तुम्हारी मुहब्बत पर।"

( २ )

ये उन दिनों की बातें हैं, जब दिल्ली के तख्त पर दीन दुनिया के मालिक अकबर हुकूमत कर रहे थे। मुल्क में चारों ओर अमन-चैन की वंशी बज रही थी। कहीं कोई हलचल, अशान्ति या बलवा नहीं; चारों ओर शान्ति, शासन और सुव्यवस्था थी। बादशाह स्वयं हिन्दू-मुसलमानों को एक दृष्टि से देखते थे। प्रजा की सब तरह से परवरिश होती थी। कहीं कोई धाँधली नहीं, धौंस नहीं। लेकिन एक बात जरूर थी। इस बात को जरा कम लोग जानते थे—बादशाह बन्दापरवर तो थे, जरा हुस्नपरस्त भी थे। इस अधेड़ उम्र में भी यह शौक, यह हविश कम न हुई थी। बादशाह सलामत हुस्न देखते ही दीवाने हो जाते थे। लेकिन यह कोई बुरी बात नहीं। फिर बादशाह के लिए ?

हां। तो चारो ओर गाँव-गाँव में शहर-शहर में बादशाह के दूत और दूतियां मुकर्रर थीं। कहीं कोई हसीन लड़की नजर आयी और बादशाह को खबर मिली। इसके बाद क्या मजाल कि बादशाह उसका रस न लूटें। यही हुस्न, जिसे ईश्वर का वरदान कहते हैं न जाने कितनीं कुमारियों नववधुओं और विधवाओंकी जानका गाहक हो चुका था। लेकिन बादशाह ! वे तो दो-चार दिन उसे

अपनी पर्यङ्कशायिनी बनाकर, सिर्फ दो ही चार दिन उससे प्रेम कर उसे जीहुजूरों के हवाले कर देते थे। वे दीन-दुनिया के मालिक थे। उन्हें नयी-नयी लड़कियोंकी क्या कमी !

( ३ )

दोपहरको खा-पीकर जुलेखा का बूढ़ा बाप अपने दरवाजे पर बैठा हुक्का गुड़-गुड़ा रहा था कि उसने देखा—जमींदारके दो सिपाही उसके घर की तरफ आरहे हैं। उनके प्रति आदर के भाव से वह हुक्का छोड़ कर फौरन् उठ खड़ा हो गया । दोनों आकर वहीं खड़े हो गये। करीम भीतरसे एक खाट ले आया और बोला,—"बैठिये।"

दोनों बैठ गये।

"कहिये ? आज कैसे इनायत की।"

"मालिकका हुक्म है कि तुम फौरन हाजिर हो।"

"क्यों ? कौन-सी ख़ता मुझसे हो गयी ।" करीमने भयभीत होकर कहा।

यह भाई हमें क्या मालूम।" उनमें से एक ने निर्विकार भाव से उत्तर दिया।

"अच्छा तो आप चलिये। मैं अभी हाजिर हुआ।"

"हम लोग बाहर ठहरे हैं। तुम कपड़े पहन लो।"

करीम ने भीतर जाकर साफ़ा बांधा, अंगरखा। पहना और निकलकर, उनके साथ चला। जमींदार के बँगले पर पहुँच कर

करीम ने सलाम किया। जमींदार अपनी अफेद दाढ़ीपर हाथ फेरते हुए बोला,—"आओ भाई करीम बैठो।"

करीम वहीं जमीन पर अदबसे बैठ गया।

"नहीं नहीं, यहां चारपाई पर बैठो।"

"बड़े मज़े में हूँ सरकार। कहिये, ख़ाकसार को कैसे याद किया।"

अब तक दोनों सिपाही वहाँ से चले गये थे।

"कुछ जरूरी बातें करनी थीं। बस तुम समझ लो कि तुम्हारी क़िस्मत खुल गयी।" जमीदारने अर्थभरी निगाह से देखकर कहा।

भोलाभाला करीम कुछ न समझा और चकित-सा होकर उनकी ओर देखता रहा।

"करीम! आज बादशाह का हुक्म मेरे पास आया है कि तुम्हारे गाँव में एक बहुत ही हसीन छोकरी है, जिसकी तारीफ यहाँ तक फैली हुई है। तीन दिन के अन्दर उसे मेरी ख़िदमतमें पेश करो। जानते हो, वह कौन है?

करीम चुप बैठा रहा।

"वह है तुम्हारी लड़की जुलेखा। इस बलाकी हसीन छोकरीने बादशाह का दिल खींच लिया है। अब क्या है? अब तुम्ही तुम दिखाई दोगे। तुम्हारे बुरे दिन गये। चैन करोगे। इस लिये तुम्हे बुलाया है कि परसों मैं खुद सुबह उसे बादशाह की ख़िदमत में ले जाकर आदाब बजाऊँगा। तुम भी चलना। तैयार रहो।"

## बेचारा करीम कुछ समझा, कुछ न समझा

"मगर हुज़ूर ! मेरे तो यही एक लड़की। अगर दो चार होतीं तो एक बन्दापरवर की नजर कर देता। मगर मेरे तो और दूसरी कोई औलाद भी नहीं है। सोचते थे कि इसी की शादी करके दामाद को भी घर रख लेंगे।"

जमींदार ने कहा,—"मगर तुम जानते हो ? बादशाह का हुक्म है। दुनियामें कौन है, जो उनकी हुकुमअदूली कर सके ? और इसमें तुम्हें इन्कार ही क्या है। लड़की जाकर ऐशोआराम के साथ बेगमों की तरह रहेगी। तुम्हारी भी सब गरीबी-मुफलिसी दूर हो जायगी।"

"मगर सरकार ! हम दोनों तो रो-रो कर मर जायेंगे। अब तो हमारी जिन्दगी आपके ही हाथमें है। आप ही बचायें, तो इज्जत-आबरू और जान बच सकती है। हमारी यह बदनसीबी..........." कहते कहते वृद्ध करीम की आंखें छलछला आयीं। उसने जमींदार के पैर पकड़ लिये।

जमींदारने तसल्ली दी। "नहीं इसमें आबरू-इज्जत की कौन-सी बात है। बादशाहके खास हरम में जाकर बेगमोंकी तरह रहना बड़ी क़िस्मतकी बात है।"

"कितनी बड़ी बदनामी और ज़लालत है हुजूर ?

"नहीं जी। न जाने कितने बड़े-बड़े अमीर जागीरदार, और राजा अपनी-अपनी लड़कियां बादशाह को नजर करते हैं। इसमें ज़लालत

कैसी ? एक तुम्ही बड़े इज्जतदार हो ?" जमींदार ने कुछ तेजी से कहा। करीम सिरपर हाथ रखे बैठा रहा।

"अच्छा तो अब जाओ। परसों सुबह तुम भी मेरे साथ चलना। वहाँ अगर बादशाह की निगाह हो गयी तो मालामाल हो जावोगे।

करीम सचमुच रो उठा, फफक फफककर "नहीं सरकार! मुझसे यह न हो सकेगा; आप कहला दीजिये।"

"कमबख्ती आयी है क्या? मिट्टी में मिल जावोगे। बादशाह की नजर टेढ़ी हुई और मरे। लड़की भी छिन जायगी और जान भी जायगी। कुछ होश भी है ?"

बूढ़ा करीम तिलमिलाता हुआ चला आया।

( ४ )

दूसरे दिन शाम को गाँवके बाहर एक पेड़ के नीचे खड़ी हुई जुलेखाने देखा—यूसुफ लड़खड़ाता हुआ पास आकर खड़ा हो गया।

जुलेखाने उसके गले से लिपटकर कहा,—कुछ सुना है ?"

"सब सुन चुका हूँ।" यूसुफ ने कहा।

"कैसे ?"

"मेरे छोटे मालिक आज दोपहरको आये हैं। उन्होने मुझसे सब बताया है।"

"तो अब ? अब क्या होगा ?"

"कुछ नहीं। आज रात को तैयार रहना। हम दोनों ही रातो-रात भाग निकलेंगे।"

"कहाँ चलोगे भाग कर ?"

"जहाँ ख़ुदा ले जायगा। कहीं-न-कहीं तो दो कब्रों के लिए जगह मिल ही जायगी।"

"अगर पकड़े गये तो ! जानते हो जमाना कितना टेढ़ा है।"

"उस वक्त देखी जायगी। मुहब्बत की है, तो उसके अञ्जाम भी भोगेंगे। अगर हम पकड़े गये तो मौत ! मौत ही समझो।"

जुलेखा काँप उठी। "खुदा का क़हर गिरे ऐसे ज़ालिम बादशाहों पर, जो गरीब रियाया की बहू-बेटियों की ख्वाहिश रखते हैं। खुदा गारत करे ऐसे दौलत के कीड़ों को।

"खुदा भी अमीरों का ही है।" यूसुफ ने कुछ निराश-सा होकर कहा। "अमीरों की ही हाँ में हाँ मिलाना, उन्हीं के ऐशो-आराम की फिक्र करना उसने जाना है। गरीबों से उसे क्या मतलब ? मरें, जीयें या भाड़ में जायँ।"

"लेकिन" यूसुफ ने फिर कहा—"खुदा भी जानता है कि मैं तुमको किस सचाई के साथ प्यार करता हूँ। हमारी मुहब्बत कितनी पाक, कितनी सची और कितनी जबरदस्त है ? खुदा भी ऐसों की अगर मदद न करेगा, तो उनका और कौन सहारा है ?

"मेरे मालिक" जुलेखा ने हसरत भरे कण्ठ से कहा—"मैं तो तुम्हीं को सब-कुछ समझती हूँ। तो तुमने यही तय किया है ?"

"हाँ ! मैंने जब से सुना है, तब से मेरे दिल में आग लगी है। कलेजा भीतर-ही-भीतर चाक हुआ जाता है। ये बादशाह भी कितने सङ्गदिल होते हैं। दौलत से मानों दुनिया का हुस्न, मुहब्बत और अस्मत खरीद लेंगे।

"उफ ! मेरे प्यारे यूसुफ ! मेरे मालिक ! मैं तुम्हारे साथ दोज़ख भी चल सकती हूँ। जब से मैंने सुना है कि बादशाह ने मुझे अपने दरबार में हाजिर होने का हुक्म दियाहै, तब से मैं दीवानी-सी हो गयी हूँ। वहाँ जाने के मानी हैं........" कहते-कहते जुलेखा ने उत्तेजना से अपने होंठ काट डाले।

"नहीं जी। हम दोनों ही यहाँ से रात को भाग चलेंगे। रातों-रात तो न जाने कितने कोस निकल जायेंगे। अगर खुदा ने चाहा, तो सही-सलामत किसी दूर के गाँव में पहुँच कर यह छोटी-सी ज़िन्दगी इतमीनान से बसर करेंगे। लेकिन किसी को कानों-कान खबर न होने पाये।"

"हर वक्त मेरे दिल में तुम्हारा ही ख्याल, तुम्हारी ही तसवीर रहती है, तुम्हीं में मेरी जान बसती है, तुम्हीं मेरे खुदा, मेरे मालिक मेरी इबादत हो। तुम्हारे सामने दुनिया भर के बादशाहों की क्या हस्ती है, जो मुझे पा सकें। मैं तुम्हारी हूँ। मेरा एक एक अङ्ग तुम्हारा है। इस दिलके, इस जिस्मके, इस नाचोज़ छोटी सी दुनिया के तो तुम्हीं बादशाह हो।"

"तो फिर मैं किसी की परवाह नहीं करता" यूसुफ ने सीना फुला कर कहा। तुम्हीं दिलसे मेरी हो, तो फिर तुम्हें कौन छीन सकता है ? यूसुफ के लिए तो जुलेखा ही सब कुछ है। उसी के एक इशारे पर वह अपनी जान भी उसी तरह निकाल कर फेंक सकता है, जैसे लोग एक पैसा निकाल कर फ़कीर के सामने फेंक देते हैं।"

रात बढ़ती ही जा रही थी। अन्धकार को चीरकर चांदनी की किरणें अपना नीला जाल बुन रही थीं। यूसुफ ने जुलेखा को प्यार के साथ चूम लिया।

यूसुफ ने कहा,—"मैं वहीं आधी रात के करीब आऊँगा और धीरे से दरवाजे पर थपकी दूंगा। तुम फौरन बाहर निकल आना। सो न जाना, नहीं तो सारा खेल मिट्टी हो जायगा।"

जुलेखा ने कहा,—नहीं ! मैं बराबर जागती रहूँगी। लेकिन तुम आना जरूर। सिर्फ यहीं एक तरीका है, जिससे हम बच सकते हैं, नहीं तो तुम कहाँ होगे—मैं कहाँ हूँगी।"

यूसुफ ने कहा,—"नहीं, घबड़ाने की कोई बात नहीं है। मेरे छोटे मालिक, खुदा उन्हें सलामत रखे, हर तरह से मेरी मदद पर हैं। उनके रहते मुझे किस बात की परवाह है।"

जुलेखा—"तो क्या उन्हें सब मालूम है ?"

यूसुफ—"हाँ, उन्हीं की यह सब सलाह है। उनकी इमदाद का मुझे पूरा भरोसा है।"

"खुदा उन्हें सलामत रखे।" जुलेखा ने ऊपर की ओर हाथ जोड़ कर कहा।

इसके बाद दोनों दो ओर चले गये।

× × ×

रात को यूसुफ वहीं १२-१ बजे आया और उसने दरवाजे पर थपकी दी। करीब आधा घण्टा बीत गया; लेकिन न कोई निकला ही और न कुछ उत्तर ही मिला। यूसुफ ने कई बार थपकियाँ दीं, कई बार सीटी बजाया; दो एक बार दबी जबान से जुलेखा जुलेखा कह कर पुकारा भी। परन्तु कहीं कुछ नहीं। बराबर चार घण्टे यूसुफ दरवाजे पर बुत बना खड़ा रहा। आखिर को जब मुर्गे बोलने लगे तब यह वहाँ न खड़ा रह सका। उसका दिल रह-रह कर बैठा जा रहा था। सिर से पैर तक वह अकुलाहट में डूबा हुआ था। उसने निराशा और कचट से भरी हुई एक नज़र उस मकान पर डाली और अपनी ही ज्वाला में जलता हुआ एक ओरको चल दिया। संसार में अब उसका कौन है? आज सुबह ही जुलेखा बादशाह की खिदमत में हाजिर होगी। अब उसके लिए संसार में कौन-सी खुशी, कौन-सी हसरत, कौन-सी उम्मीद बाकी है?

यूसुफने सामने देखा,—कुछ-कुछ प्रकाश फैल रहा है। वह अन्धकार, वह सुनसान, वह निस्तब्धता मानों आकर उसी के जलते हुये दिल में भर गयी है। हां, उसे कौन परवाह है। उफ! औरत

की जात कितनी बेरहम, कितनी जालिम और कितनी बेदर्द होती है ! कितनी धोकेबाज और रजील ! यही जुलेखा है, जिसके लिये उसने न जाने कितनी रातें जागकर बिताई हैं।

यही जुलेखा है, जिसे उसने अपना दीन, ईमान, खुदा सब कुछ समझा है, जिसके लिए वह जान हथेली पर लिये रहा है, जिसके लिये सर्वस्व लुटा देने में भी शायद वह आनाकानी न करता। उसके पास सर्वस्व और था ही क्या ? यही दिल, जान और ईमान। लेकिन दौलत के सामने जुलेखा ने उसकी मुहब्बत को इस तरह ठुकरा दिया ? वहां जाकर बेगम बनेंगी, बादशाह की प्यारी, दुलारी बनेगी। मेरे साथ जङ्गल-जङ्गल की खाक छाननी पड़ती। इसीलिये तो मेरे साथ नहीं आयी। उफ ! संसार में कितना धोखा, कितना जाल, कितना फरेब है ! यहां मुहब्बत की कदर नहीं, दौलत की चमक-दमक, महलों के लालच के सामने सच्चे प्यार की चाह नहीं है।......

यूसुफ न जाने कहां चला गया। उसी तरह सोचता, बिसूरता और रह-रह कर जलता हुआ। उसके सिर पर एक अजीब वहशत सवार हो गयी। गांव वालों ने उस परदेशी गुलाम को गांव में फिर न देखा।

जुलेखा सचमुच दूसरे ही दिन ऊषा की रक्तरञ्जित बेला में एक विचित्र भय से सिहरती हुई दिल्ली के लिए रवाना हुई। रह रह कर उसका हृदय फटा जा रहा था। जिस रौरव नरक की ओर वह अविराम गति से बढ़ी चली जा रही थी, उससे कैसे उद्धार होगा।

रह-रहकर एक मर्मघाती, हाहाकार-भरी कल्पना आँखो के सामने घूम जाती थी। बादशाह की वासना की गुड़िया बनकर जुलेखा आज ही उनकी कदमबोशी करेगी !!!

( ५ )

इसके कई साल बाद एक दिन दिल्ली की सड़कों पर एक वेश्या बाजारू गजलें गा-गाकर लोगों का जी बहला रही थी। उसका यौवन भयानक गति से ढल रहा था, लेकिन आखों में वही सुर्मा, कानों में इत्र का फाहा, पेशवाज, गुलाबी रंग का दुपट्टा और वही नाज़-नखरे से भरी चेष्टाएं। उफ! कैसा भीषण परिवर्तन है! यही ग्रामीण बालिका एक दिन बादशाह के सीने से सटकर सोती थी। कुछ दिन बादशाह ने जिसका यौवन लूटा, वही फिर बादशाह के नौकरो-गुलामों के साथ जघन्य कुकर्म करने के लिये ठुकरा दी गयी और वहां से भी अपनी दूकान बढ़ा कर आज वह सड़कों पर दो-दो पैसों पर नाचती, गाती और न जाने क्या क्या करती है, तब कहीं जाकर पापी पेट भरता है।

"चलोगी मेरे साथ।" उस मनचले शराबी ने कहा।

"मुझे क्या इनकार है ! वेश्या ने एक कटाक्ष किया।

साजिन्दो के साथ वह शराबी के पीछे चल पड़ी।

एक छोटी मोटी महफिल-सी वहां हो गयी। दो चार लोग और आकर बैठ गये। बेड़न ने नाचना-गाना शुरू किया। साजिन्दे ले उड़े।

खुदा का कहर। बेड़न ने सुना—उनमें से एक उसी शराबी मन चले से कह रहा है,—यार युसुफ ! यह बुरी तो नहीं है, लेकिन जरा ढल गयी है ।"

उसने जरा गौर से देखा और धम्म से वहीं बैठ गयी।

"अरे यार ! जरा इस अदा को तो देखो" उस मनचले शराबी युसुफ ने कहा।

यह अदा भी कैसी दिलचस्प होती है । आंखें उलट कर फटने लगती हैं और दो हिचकियों में शरीर एंठ और अकड़ जाता है।

یہ بھی ایک بڑی ہی اچھی کہانی ہے

یہ پہلی - دوسری اور تیسری کہانیوں سے

بہت ہی مزے دار ہے ۔

روشن

# तब और अब

आज दो दिन से रूपा भूखी थी। घर में एक दाना नहीं था और मकान की मालकिन तीन दफे आकर उससे कोठरी ख़ाली कर देने के लिए बोल चुकी थी।

रूपा को अपनी चिन्ता नहीं थी। वह तन्दुरुस्त और नौजवान लड़की है। कम से कम ८ दिन तो वह भूखी रह ही सकती है। परन्तु बीमार और भूखी माँ के लिए क्या करे। अगर अकेले उसी के मकान छोड़ने का सवाल होता तो वह शायद हिम्मत भी बाँध लेती। आख़िर इतने लोग जो बे घर-द्वार के हैं और दिन भर दरवाजे-दरवाजे घूमकर

B.L. Kora
c/o Sotiwr Rao
Barshal (S.U.P.)



भीख माँगा करते हैं कहीं न कहीं रहते ही हैं। इसीलिए रूपा के मन में उस काली और अँधेरी जमीन की सतह से भी एक फुट नीची कोठरी और सामने की घिनौनी दालान के लिये कोई मोह नहीं था। परन्तु वह इस अध बूढ़ी और बीमार माँ को कहाँ ले जाय? सड़क पर साथ में लाकर यह दिन-रात कफ़ से घर्र-घर्र करती और बुख़ार से टूटती एक जिन्दा लाश को लेकर वह कैसे रह सकेगी? चारो ओर अँधेरा है। कहीं कोई चारा नहीं सूझता, रूपा क्या करे! उसे अपनी तनिक चिन्ता नहीं। वह तो पानी से भी अपना पेट भर कर हवा में फुदकती रह सकती है। परन्तु कोठरी की झरझरी दीवालों की तरफ़ फटी फटी आँखों से देख कर जब उसकी माँ रोटी और चटनी माँगती है तब वह क्या करे!

आज छः महीने से रूपा के ऊपर विपत्ति आई है। अपने बचपन का उसे कुछ होश है ही नहीं। सुनती हूँ कि उसका पिता यहाँ किसी मिल में काम करता था और रूपा को छः साल की करके तब वह मरा। रूपा के एक भाई भी था जो उस अँधेरी कोठरी की नमकीन, सड़ी और जहरीली हवा में थोड़े ही दिन रहने के बाद चल बसा।

बम्बई में रूपा का पिता जिस मिल में काम करता था उसमें आये दिन हड़तालें हुआ करती थीं। एक बार हड़ताल में दूसरी मिलों के मजदूरों को अपनी मिल में काम करने के लिए आते देख कर रूपा का बाप अन्य तीन हड़तालियों के साथ फाटक पर लेट गया था।

पुलिस के नौजवानों से भरी आदमखोर लारी एक साथ उन सब के ऊपर से निकल गई थी। रूपा उस समय छः साल की थी और उसकी माँ आज भी जब अपने मृत आदमी की उस हैबतनाक मौत का जिक्र करती है तो जैसे उसका एक एक बाल खड़ा होने लगता है और चेहरा विकृत होकर और भी काला पड़ जाता है।

इसके बाद रह गई रूपा और उसकी माँ। पेट के खन्दक को कैसे भरा जाय, यह एक अहम मसला बेटी के सामने तो नहीं, मगर मां के सामने जरूर था। रूपा को यह भी पता नहीं था कि उसकी माँ कैसे उसका और अपना पेट भरती रही। दोनों उसी कोठरी में बराबर बनीं रहीं और मकान की चिड़चिड़ी मालकिन को कभी बोलने का मौका भी नहीं मिला। किराया पहुँचने में कभी देर न होती थी। रूपा को बहुत दिन तक यह नहीं मालूम हो पाया कि उसकी बेवा मां जो बिलकुल मेहनत और मजदूरी नहीं करती कहाँ से कमा कर उसे अच्छा खाना और कपड़ा देती है और खुद भी ऐसी नफ़ासत से रहती है। परन्तु उमर में बढ़ने के साथ-साथ इन्सान की और ख़ासकर लड़कियों की समझदारी बढ़ती जाती है और धीरे-धीरे रूपा को भी सब ज्ञात होने लगा।

अकसर रात को उसी छोटी, गन्दी, गहरी और एक सड़न की सी गन्ध देने वाली कोठरी में जब रूपा की आँख खुल जाती तो वह दूसरी खाट पर पड़ी अपनी माँ की ओर निगाह दौड़ाती और देखकर

भय से आँख मूँद लेती। उस समय उसकी समझ में लोगों के यह कहने का अर्थ आ जाता था कि रूपा की माँ बुरा काम कराती है और उसकी आंखों की लाज शरम मर गई है। उस समय रूपा की समझ में आने लगता कि यही बुरा काम है। अब तो रूपा सोलह साल की हो गई है और जीवन की सारी चेतना उसके अन्दर जाग कर उसे और भी भय-आक्रान्त करती रहती है। रूपा ने अभी-अभी केवल साल भर पहले तक ऐसे ही आँख मूँद देने वाले दृश्य अपनी माँ की कोठरी में देखे हैं और आज यद्यपि वह उन्हें देखते रहने की आदी हो गई है, मगर उस सीन की विभीषिका और बीभत्सता तो उसे सदैव बेचैन करती रहती है। युवा होते हुये भी युवावस्था की रङ्गीन आँखों से वह उस दृश्य को नहीं देख सकी है और सदैव उससे सिहरती और कण्टकित होती आई है।

इधर आठ महीने से एकाएक रूपा की माँ बीमार हो गई है। रूपा को बीमारी का सारा कारण मालूम है और यह भी मालूम हो गया है कि इस कृत्य के कच्चेपन ने ही उसकी माँ को आज निचोड़ कर सुखा कर एक हड्डियों की ठठरी मात्र बना दिया है। माँ की बीमारी में रूपा ने बड़ी ईमानदारी और परिश्रम के साथ उसकी सेवा की है। रूपा अब, इतना तो समझ ही लेती है कि जो माँ उसे पालने पोसने के लिए अपने शरीर का व्यवसाय करती रही है और जवान लड़की को कुकर्मी ग्राहकों की निगाह से बचाने के लिए

जो बराबर अब तक अपना मांस दिये जाती थी; वह और चाहे जो हो एक साधारण माता नहीं है। इस आठ महीने में रूपा ने घर का सारा सामान बेंच कर माँ को अनन्त, अलक्ष्य की ओर जाने से रोका। फिर भी वह दिन प्रति दिन फीकी पड़ती जाती थी और अब तो कुछ ही दिनों की मेहमान-सी वह लगती थी !

तो रूपा क्या करे और माँ के लिए कहाँ से रोटी और कम से कम चटनी का प्रबन्ध करे ? रूपा ने यह भी देखा था कि उसकी माँ ज्यों-ज्यों मौत के क़रीब पहुँच रही थी त्यों—त्यों उसकी भूख और पेट की तृष्णा भी बढ़ती जाती थी। यदि समय पर उसे रोटी न मिलती थी तो वह कुत्सित और कर्कश स्वर में न जाने क्या—क्या बका करती थी। वह सब सुन कर रूपा काँप जाती थी। क्या वही माँ है यह जो एक रात उस पापी को उसकी चारपाई की तरफ़ बढ़ते देख कर उसकी कमर से लिपट कर बोली थी—'तुम मेरे साथ चाहे जो करो, मगर इस लड़की की पत मत बिगाड़ो। आज आठ साल से तुम मेरे यहाँ आ रहे हो। कुछ तो आदमियत का ख्याल करो। उसे अपनी ही लड़की समझो न ?' ऐसा कहते-कहते जो फूट-फूट कर रो पड़ी थी और रोने के तीक्ष्ण विवर्ण स्वर से, रूपा चौंक कर जाग पड़ी थी और उस शराबी को भी जैसे कुछ ग्लानि आ गई थी। आज रूपा की वही माँ जो उसे अपने जीवन के काले-काले कुत्सित व्याधि जैसे दुर्गन्धमय कीचड़ में कमल सा निर्दोष निष्कलङ्क रखती आई है, जब भूख से व्याकुल होती है तो

कहती है—जाती क्यों नहीं ? अब क्या तू छोटी है या दुनिया की बातें जानती नहीं ? क्यों नहीं कमाकर लाती और मेरा पेट भरती ? क्या मैंने तन बेंच-बेंच कर तुझे इसलिये पाला है कि तू सतवन्ती बनी बैठी रहे और मैं बाजार की कुतिया की तरह एकएक सड़ी रोटी के टुकड़े के लिए तड़प-तड़प कर जानदूँ ? जा जा। बाहर जा। यहाँ इतनी जवानी और रूप लिए क्यों पड़ी रहती है ? यहाँ कौन आवेगा ?

रूपा यह सब सुन कर सिर नीचा कर लेती है। दोनों आँखों से एक साथ गरम-गरम दो आँसू गिर पड़ते हैं। तो क्या उसे यह करना होगा। शुरू से ही रूपा दुनिया में जिस काम को बुरा मानती आई है, उसे तो वह बुरा ही समझती है। अब उसे भला समझ कर क्या उसी में कूदना होगा ? उस समय उसे चारो ओर से एक ऐसा खोखलापन घेर लेता, जैसे उसे लील लेगा। वह क्या करे ? जिस बात के लिये उसके अन्दर आज तक एक भी हिलोर नहीं आई वही उसे करना पड़ेगा। रूपा बेचैन हो जाती। उसकी देह जैसे उसी को खाने दौड़ती और उसकी आत्मा शरीर से निकलने लगती। पास-पड़ोस में वह सबसे जितना उधार और दया की भीख माँग कर ले सकती थी, ले चुकी थी। वह करे भी तो क्या करे। मेहनत भी वह कौन सी करेगी, जो खाने भर को मिल जाय। कौन उसे पतिआएगा और काम देगा ? फिर जिसकी माँ ऐसी रह चुकी हो और प्रसूत जैसे घृणित रोग से घुल-घुल कर मर रही हो और जिसके

काले कृत्यों के चरचे चारों ओर हवा में फैले हों, उसे कौन अपने मकान में आने देगा ? बम्बई जैसे बड़े शहर में वह जाय भी तो कहाँ जाय ?

सहसा रूपा की माँ ने आँखें खोलीं और करवट लेने का प्रयास करना चाहा। लपक कर रूपा ने माँ को करवट दिला दी। माँ ने राक्षसी की भाँति उसे देखते हुए कहा—रूपा तू घर से जाती क्यों नहीं ? घर में बैठे कौन तुझे आकर दे जायगा। अभी तो तुझे बाहर जाना ही होगा, इसके बाद कहीं लोग घर में आना शुरू करेंगे।

'मगर माँ, मैं कहाँ जाऊँ ? मैं तो बाहर के रास्ते भी ठीक तरह से नही जानती ? तुम्ही थीं जो बापू के मरने के बाद इतने बड़े शहर में रह सकीं। मैं तो उसी दिन घर को भागती।'

'तू तो दूध पीती बच्ची है न ? मैंने बड़ी ग़लती की जो तुझको लेकर यहाँ शहर में पड़ी रही। मेरे पास उस समय एक पैसा भी तो न था। किराये के लिए कहाँ से रुपये लाती ? जानती है यहाँ से २५ रुपये लगते हैं पूरे। सो इतने तो मैं कभी भी न जोड़ पाई। फिर घर जाकर ही क्या करती ? वहाँ कौन खाने को देता ? जा उठ घर से बाहर रूपा। देख, मैं अब किनारे आगई हूँ। हर घड़ी अन्त की ओर सरकती जाती हूँ। मेरी कोई मुराद अधूरी न

रहने पाये। वहाँ से लौटते वक्त मूंग के पापड़ और बेसन के सेव भी लेती आना।'

रूपा की आँखें और कलेजा फिर भर आया। अपने कर्म मानव को कितना उजाड़ देते हैं। जिसके जीने में कोई अर्थ शेष नहीं रहता उसे भी जीवन के प्रति ऐसा लगाव रह जाता है, आज उसे स्पष्ट दीखा, जैसे उसकी माँ के जीवन की समस्त काली बूँदों का कालापन बेहद त्रस्त हो कर उसके चेहरे पर उतर आया है। परन्तु रूपा के सामने वही सवाल फिर खड़ा हो गया। वह क्या करे ? उसका मसोसा हुआ मन काँपने और भागने लगा। कैसे वह बाहर निकल कर जाय और तन की बिक्री का हिसाब बैठावे ? जीवन के आरम्भ से ही वह जिसे बुरा और जघन्य मानती रही है और जिसके प्रति उसके मन में पैसे और अङ्गों का किसी प्रकार का भी आकर्षण नहीं रहा उसी में उसे आकण्ठ डूबना होगा। फिर उसे अपनी माँ के विगत दिनों में दीखे, उस कोठरी में रचे, वे दृश्य याद आ गए जिन्हें देख कर वह भय के कारण आँख मूँद लिया करती थी। बचपन में उमर के कच्चेपन से ही वह इसी प्रकार आँख मूँदती चली आई है और आज उसे आँख खोल कर वैसे ही सधना और अङ्ग-प्रत्यङ्ग का परिचालन करना होगा। मरती हुई माँ के पेट की आग में वह क्या छोड़ दे कि वहाँ की सारी जल्पनाएँ शान्त हो लें।

अपने भीतर इन्सानियत की ऐसी ही जलती-बुझती आँच लेकर

रूपा बाहर निकल आई। माँ को उसने भली प्रकार कपड़ा ओढ़ा दिया था और निरीह दृष्टि से उसके चेहरे की ओर देखते हुये वह आगे बढ़ रही थी। इतनी कमज़ोर थी उसकी माँ कि इस समय उसमें इतना भी ताब नहीं था जो वह अपने चेहरे पर बैठी मक्खियों को उड़ा सके। नगर की सँडास में पड़ी हुई उस गलिता रोगिणी में आज जैसे कुछ दिन और इसी प्रकार अपने को कढ़ीलते रहने की हौंस को छोड़ कर और कुछ शेष न रह गया हो। रूपा कोठरी का दरवाज़ा अच्छी तरह बन्द कर बाहर आई। अपनी जैसी कितनी ही कोठरियों के सामने से गुज-रती हुई जिनमें ढली हुई अधेड़ और जघन्य रोगों से जर्जर वेश्याएँ बेकार और अपाहिज मज़दूर, गिरह-कट, भिखमङ्गे और पेशेवर आवारे रहते थे, वह सड़क पर आई। इसके पहिले वह बहुत कम निकली थी और इधर तो एक अरसा हो गया था उसे अपनी माँद छोड़े। उन सब ने रूपा को देख कर ऐसे खुले हुये और भद्दे इशारे करने शुरू किये जिन्हें देख कर और समझ कर रूपा को कै-सी होने लगी। जीवन का यह अविश्वसनीय और भयावह पहलू तो आज ही रूपा को दीखा था। सड़क पर आते ही रूपा घबरा गई। बम्बई शहर की ऐसी विराट हलचल और हाहाकार जैसे उसे खाये जाने लगा। शाम होने में क़रीब-क़रीब एक घण्टा बाक़ी था। विलास-वैभव और कोलाहल से भरा सारा शहर रूपा को एक अविजानित दुःख से जैसे सिसक-सिसक कर रोता प्रतीत हुआ और ग़रीबी की फटी-फटी सी सिसकन उसे चारों ओर सुनाई दी। दोनों ओर आकाशचुम्बी अट्टालिकाएँ, सड़क पर बिजली

की बत्तियों की घनी क़तारें जो अब जलना ही चाह रही थीं। नर-नारियों का आता और जाता हुआ अविरल प्रवाह मानो मानवता के नमूने की प्रदर्शिनी सजाई जा रही हो। अधिकार और धन के गर्व में तने, चूर वे भी उनमें थे जिनके निकट अर्थ और सम्मान के अतिरिक्त किसी चीज़ का अस्तित्व ही संसार में नहीं। दूसरी ओर चीथड़ों से लिपटे और सहमी-सहमी आँखें धरती में गाड़े वे भी थे जिनके लिए पेट और केवल पेट का ही प्रश्न था। जिनके लिये दुनिया एक बेहयाई की मञ्जिलगाह थी और अपने-अपने भाग्य से जो कफ़न के पैसों के लिये जूझते फिरते थे। रूपा यही सब देखती चली जा रही थी। दूर पर उसे एक बड़ा पार्क दिखाई दिया। वह कुछ तेज जाने लगी अब। पार्क के पास आकर वह कुछ ठिठकी। माँ ने इसी पार्क का जिक्र तो नहीं किया था। ज़रूर किया होगा। यही तो घर से एक मील के दायरे में है। उसने भीतर देखा। लानों पर बच्चे किलकारियाँ मारते हुये खेल रहे थे। पूरे पार्क में एक मेला सा दिख रहा था। सभी उमर की औरतें और मर्द सभी प्रकार के विचार लेकर वहाँ चल रहे थे। ऊपर से सब के मुखों पर वही एक रस रहने वाली नपी-तुली सभ्यता की एकरस्थ मुस्कानें थीं।

रूपा ने पार्क के भीतर प्रवेश किया और इधर-उधर देखती हुई वह सीधी उधर चली आई जिधर बेञ्चें पड़ी थीं। उसे यह देख कर आश्चर्य हुआ कि उन बेञ्चों में प्रायः सभी खाली थीं। यद्यपि संख्या में वे सात आठ थी। रूपा उनमें से एक पर जाकर बैठ गई। बैठी-बैठी

वह न जाने कितनी बातें सोच चली। उधर अन्धकार गाढ़ा हो चला।। सड़कों पर मनुष्यों का तांता कहीं क्षीण और कहीं गहरा था। बिजली की रोशनियां दीपमालिका सी जगमगाने लगीं। रूपा ज्यों की त्यों बैठी रही। यह भी एक विडम्बना ही थी। रूपा को यह नहीं ज्ञात था कि वह जिन बेञ्चों के बीच में आकर बैठी है वहां वह बिगड़ी लड़कियाँ और प्रौढ़ाएँ आकर बैठती हैं जो पुरुषों की घात में घूमा करती हैं। एक इत्तिफ़ाक की बात थी यह जो रूपा वहाँ आकर बैठ गई थी। बैठे-बैठे और सामने की झील की ओर देखते-देखते उसकी आँखों में एक सुहानी ठण्ढक छा गई। वह कुछ ऊँघ चली। उसकी कल्पना ने एक सुनहला-गाना बाना बुनना शुरू कर दिया। जैसे वह जीवन की गति में निष्काम, निरापद और प्रवाह की प्रचण्डता में भी अपने स्थान को जानती-पहचानती आगे चली जा रही है। उसे अपने जीवन का एक निश्चित मार्ग मिल गया है। उसका आदमी है जो मेहनत मज़दूरी करके रुपया दो रुपया रोज कमा लेता है। रूपा इस सत्यानाशी शहर के बाहर एक छोटी झोपड़ी में रहती है। उसके फूल जैसे दो बच्चे हैं और अपने इन लालों को लेकर वह अवितृप्त और शीतल है। उसे कोई वासना, कोई हविश नहीं है। उसका आदमी कभी-कभी शराब पीकर उसे मारता-पीटता भी है और बाद में होश में आने पर और दिल-दिमाग़ का नशा उतर जाने पर उसे ज्यों का त्यों प्यार करने लगता है। एक मायावी रस की इस सृष्टि में रूपा डूब-उतरा रही थी। उसकी माँ भी मर चुकी है; परन्तु वह अपने कृत्यों की काली छाया में तो

उसके चारों ओर छोड़ ही गई है। यही रूपा के प्राणों में कसकने वाला एक काँटा है। परन्तु वह थी तो उसकी माँ ही। उसी ने उसे अपने पेट में रख कर और अपने रक्त-मज्जा से सींच-सींच कर उसे अस्तित्व दान दिया था। रूपा ने बड़ी-बड़ी निर्भ्रान्त आँखों को खोल कर फिर एक बार झील की ओर देखा। क्या ऐसे दिन की ठण्डक उसके भाग्य में नहीं लिखी है? आज जिस रास्ते पर पैर रखने वह आई है उसमें तो बाज़ारू लोगों के साथ लड़ते-झगड़ते और रोते-झीखते ही उसका जीवन बीतेगा। बाद में उसकी जो-जो गति होगी वह भी तो वह जानती थी। बीच में इच्छा होते हुए भी जितने-जीने में परमात्मा ने बाँध दिया है उसमें से तो वह भाग न सकेगी। तब उसका क्या होगा? वह भी क्या एक दिन अपनी लड़की को ऐसे ही बुरा काम करने के लिए बाज़ार न भेजेगी। रूपा एक कण्टकाकीर्ण सिहरन से दब गई। एक ओर की कल्पना जितनी मीठी थी दूसरी उतनी ही कड़वी। जैसे हलाहल का काढ़ा हो। तब वह भी अपनी माता की भाँति इच्छा होने पर मर न सकेगी। मौत से भारी हैबतनाक और काटने वाली चीज़ दिल में लिये उसे मिट-मिट कर जीना होगा। जीवन रेगिस्तान सा तपेगा, दहकेगा और शायद शरीर भी वैसा ही घृणित और व्रणों से भरा हुआ जला करेगा······रूपा आगे न सोच सकी। उसे इस मार्ग पर नहीं जाना है। यह तो बड़ा ही कृत्रिम और परमात्मा की मर्जी के प्रतिकूल है। तभी तो वे ऐसा काम करने वालों को ऐसा भीषण दण्ड देते हैं। पहले तो ज़रूर कुछ मज़ा होता होगा जैसे

मवाद से भरे फोड़ों को हलके-हलके छूने पर सुख मिलता है। एक प्रकार का स्पर्श-सुख जो बहुत रुचता है। मगर बाद में जब वही फोड़े दहक-दहक कर फूटते हैं तो कैसी नारकीय यन्त्रणा मिलती है।

तो फिर रूपा क्या करे ? कहाँ ढूँढ़े वह जीवन का एक साथी जो उसकी नाव को भवसागर से पार लगाने का ठीका ले। कौन ऐसा मिलेगा जो उसे अपनी दासी बना कर रक्खे और उसी का होकर रहे ? वह भी जिसकी छाती के घोंसले में चिड़िया-सी दुबकी अपना जीवन काट सके। माँ तो अब चन्द दिनों की मेहमान है। यद्यपि वह मृत्यु के बाद क्या होगा इससे घबराती है और अपनी काली गठरी कुछ दिनों और ढोती रहना चाहती है, परन्तु कहाँ मिलेगा रूपा का वर जो उसे अङ्गीकार करे ? नहीं, रूपा ऐसे ही आजीवन उसका इन्तज़ार कर ले जायगी। परन्तु वह अपने सिरजनहार से द्रोह नहीं करेगी। वह अपने विवाहित पिता की लड़की है। अगर वह अपने बाप के मर जाने के बाद पैदा होती तो उसका रास्ता साफ़ था। वह भी तब जिधर से आई थी उधर ही जाती। परन्तु वह तो सच्चे बाप की कन्या है। आज वह स्वर्ग-नरक कहीं भी हो उसके ऐसे कृत्यों से कितना दुखी न होगा। कैसे यह उसकी आत्मा को अशान्त कर सकेगी ? वह भूखों मर जायगी—वह मज़दूरी करेगी—वह नाली और पाख़ाने साफ़ करेगी, परन्तु यह सब तो उसके किए न होगा। वह गुड़िया बनकर बिगड़े दिल आवारों की कुचेष्टाओं का केन्द्र न हो सकेगी। उसे जीना है और अवश्य जीना है। परन्तु वह ऊँची चितवन

लेकर ही जियेगी। अपने पुण्य का क्षय होने पर वह जी न सकेगी। वह रक्त माँस की बनी है। भले ही मरने के बाद यह सब मिट्टी हो जाता हो, परन्तु इस समय तो वह मज्जा और लोहू है। मिट्टी भले ही अपना प्रतिकार न कर सकती हो, परन्तु गोश्त तो अपनी रक्षा आप कर लेता है। रूपा सोचते-सोचते गलने लगी। उसे यह इच्छा हो आई जैसे वह अपने को ही चिपटा कर जी भर रो ले। रूपा विह्वल हो चली और बैठी-बैठी ऐसे ही इधर-उधर की बातें सोचती रही। वह लौट जायगी और जाकर माँ से कहेगी—नहीं माँ, तुम मरो—कल मरती हो तो आज ही मर जाओ, परन्तु मुझे ज़िन्दा रहने दो। अपनी निगाह में और अपने कर्ता दोनों की।

सहसा उसके कन्धे पर किसी ने मुलायमियत से हाथ रक्खा। उसने घूम कर देखा, एक आवारा-सा मुसलमान छोकरा खड़ा था। चेहरे पर शोहदापन और आँखों में मस्ती। बालों से तेल बह-बह कर चेहरे पर आगया है। पान की लाली होठों पर काली पड़ गई है। हाथ में घड़ी बाँधे रूपा को दिखा रहा है।

'चलोगी मेरे साथ?'—उसने रूपा का हाथ पकड़ते कहा—'यही पास ही तो मेरा घर है। तुम रोज़ तो यहाँ दिखाई नहीं देतीं। आज पहले पहल आई हो जैसे। मगर इतनी उदास क्यों हो? क्या अभी रो रही थीं? देखो मेरा नाम है अहमद। मेरे रहते तुम्हें कोई कुछ न कह सकेगा। तुम चलो मेरे साथ। बोलो क्या लोगी?'

'एक साँस में कमबख्त इतनी बातें कह गया। पर मैं नही जाऊँगी मैं क़सब नहीं कमाती।'—कह कर रूपा ने उबलते हुए उससे अपना हाथ छुड़ा लिया। तीर की तरह घर की ओर चली। पार्क से बाहर निकल कर सड़क पर आते ही उसने यह तय कर लिया कि वह भीख माँगेगी और इस प्रकार जो कुछ मिलेगा उसी में अपना और अपनी माँ का पेट भरेगी। उसने दूकानों के सामने जा-जाकर माँगना शुरू किया। जिन लोगों ने रूपा को देखा उनकी निगाहों का अर्थ रूपा समझती थी। किन्तु वह अकातर, अकुण्ठित और अप्रतिहत उसी प्रकार माँगती चली। किसी ने एक पैसा भी न दिया।

दो-एक अधेड़ मारवाड़ियों ने उसे देख कर यह भी कहा—'अरी इतनी तैयार होकर क्यों भीख माँगती है! कोठा लेकर क्यों नहीं बैठ जाती? मगर काम कसाले का है। जा-जा तुझे कौन भीख देगा। मेहनत मजूरी कर मजूरी।' रूपा यही सब सुनती-सुनती घर आई। एक-एक कोठरी के सामने रुक कर उसने भीतर नज़र डाली। शायद किसी के चेहरे पर ममता की रेखा देख कर वह अपनी माँ के लिए चार पैसे माँग ले। अपने लिए उसे कोई परवाह थी नहीं। वह तन्दुरुस्त है—नौजवान है। अभी चार दिन और भूखी रह सकती है। एक कोठरी के सामने उसने जो देखा उससे उसकी आँखें फिर एक बार मुंद गईं। जैसे-तैसे अपनी कोठरी के सामने आकर उसने भिड़ा हुआ दरवाजा खोला। नीचे अँधेरा छाया था। बगल से दियासलाई माँग कर उसने कुप्पी जलाई। माँ को देखा। माँ की आँखें कुछ टँगी

सी थीं। श्वास बड़ी धीमे चल रही थी। उसने कभी किसी की ऐसी भयानक चेष्टा न देखी थी। पास जाकर वह रोने लगी और हिला कर बोली—माँ-माँ !

माँ चुप।

फिर उसने बड़ी ज़ोर से हिलाया। अब माँ की आँखें बन्द हो गई थीं। रूपा माँ से लिपट कर फफक-फफक कर रोने लगी। दोनों हाथों से उसका चेहरा उठा कर उसे ध्यान से देखा। अभी मृत्यु की कालिमा आना शुरू हुई थी। रूपा सिहर उठी। उसकी माँ आज उसे छोड़ कर सदा के लिए चली जा रही है। दुनिया में क्या उसका अब कोई भी न रह जायगा ? हाय कैसा निस्सार व्यङ्ग है उसका जीवन। उसकी माँ ने मूँग के पापड़ और बेसन के सेव के लिए तड़प-तड़प कर प्राण छोड़े। वह इतना भी प्रबन्ध न कर सकी। सोलह साल की वह तन्दु-रुस्त नौजवान और सुन्दर लड़की। कहीं से चार पैसे भी नहीं ला पाई। धिक्कार है उसके जीवन को, उसकी जवानी को। रूपा बराबर रोये जा रही थी। उसकी आँखों से बड़े-बड़े आँसू टपटप गिर कर उसकी मर-णोन्मुख माँ को—उसके डूबे चेहरे को—तर कर रहे थे। एकाएक ज्यादा नमी चेहरे पर पहुँच जाने से उसने आँखें खोली—रूपा को देख कर पहचानने की चेष्टा की और फिर हाथ मुँह के पास ले जाकर इशारे से पूछा कि वह कुछ खाना लाई।

रूपा को पकड़-पकड़ कर जैसे कोई गर्म-अङ्गारों पर घसीटने लगा। कमज़ोरी की वजह से माँ के मुँह से बात नहीं निकल रही थी। हाथ

भी एक बार मुँह तक जाकर और इशारा करके रह गये थे। रूपा ने कहा—माँ-माँ! तुम्हें मरना तो है ही, मगर तुम एक घन्टे और रुको न। मेरे लौट आने तक तुम जिन्दा रहना, इसके बाद चाहे तुम मर जाना। क्या मेरा इतना कहना न मान सकोगी माँ? मैं जाती हूँ और अभी आती हूँ। मैं जैसे भी होगा तुम्हारे लिये खाने को लाऊँगी। तुम तनिक और भूख से लड़ लो। यदि मैं अब की बार भी कुछ न ला सकी तो इस हाड़-माँस से लदे शरीर पर कुप्पी उलट कर आग लगा लूँगी। माँ, तुम रुकी हो न! मैं जाती हूँ। मुझसे बड़ी ग़लती हुई। मैं एक बार फिर डोल गई। परन्तु अब की ऐसा न होगा। मैं शरीर के ऊपर सब प्रकार की ज़बर्दस्तियाँ बरदाश्त करके अपनी सारी पत एक साथ खोकर भी तुम्हारे लिये खाना लाऊँगी। मुझे कुत्ते को भी अपना शरीर देना पड़े तो मुझे मन्जूर है। तुम मेरी कमज़ोरी के लिए मुझे माफ़ करो माँ। सब कुछ खोकर भी तुम्हें नहीं खो सकती। तुम मेरी माँ हो। मेरा तुम्हारा अविच्छिन्न सम्बन्ध है।

माँ ने एक बार फिर आँखें खोलीं। रूपा को अब की बार उनमें ज्यादा—पहले से दूनी निरीहिता और विवशता दिखाई दी। ऐसा लगा जैसे भूख माँ का एक-एक अङ्ग खाये जा रही है। माँ दुनिया से अपने बचाने के लिए आँखों में करुणा और निवेदन का एक-एक दरिया भरे रो रही है। सचमुच माँ की आँखें रो रही थीं। मगर सारे आँसू खुश्क हो गए थे। इस भयङ्कर रुदन में भी आँखों से दो बूँद आँसू नहीं गिर पाते थे। ऐसी भयानक शुष्कता और खुश्की थी। रूपा दरवाज़ा भिड़ा

कर बाहर आई। चलती दौड़ती उसी पार्क की ओर लपकी। सात बज रहे थे उस समय और बम्बई की सड़कें वैसे ही गुलजार और कलरवपूर्ण थीं। रूपा को तो इधर-उधर देखने की फ़ुरसत थी नहीं। वह सीधी सावन-भादों की घटा की तरह उमड़ती चली जा रही थी। उसे तुरन्त ही वहाँ पहुँचना था। यदि उसके पर लग जाते तो कैसा होता। उसने अब की बार जाते समय किसी के आगे हाथ नहीं फैलाये। नहीं वह ऐसा नहीं करेगी! वह पशु नहीं है। मानवी है वह। वह परिश्रम करके पैसा लावेगी और उस परिश्रम का आरम्भ होगा आज से ऐसे। दुनिया देखे, उसकी माँ देखे कि रूपा की भी कोई हस्ती है। वह नाचीज़ नहीं है। उसकी माँ भर बच जाय। फिर वह कहेगी माँ तुमने जीवन भर लोगों का पुरुष अत्याचार अपने शरीर पर सहा। अब मेरी बारी है। मैं तैयार हो आई हूँ। अब तुम आराम करो और मैं तुम्हें कमाकर खिलाऊँ। वह सारी कमज़ोरी जो उसे घण्टे भर पहले घेरे थी भ्रम और छलना थी। पाप-पुण्य, अच्छा-बुरा, विवेक-वासना ये सब अमीरों के चोचले हैं। वही इनका अन्तर जानने का दम्भ भरते हैं। गरीबों के लिये एक-एक रोटी को दम तोड़ने वालों के लिये, उनका कोई मूल्य नहीं है। उनके लिये सबसे बड़ा प्रश्न है अपना और अपनों के पेट का ख़न्दक़ भरना जो इससे कर्तव्यच्युत होता है वह अपदार्थ है। उसका यह लोक और परलोक दोनों बिगड़ते हैं। प्रेत गति से रूपा बढ़ती पार्क में आ दाख़िल

हुई। परन्तु भूल से जिधर पहले बैठी थी उधर न जाकर दूसरी ओर चली। एक बेञ्च पर एक शौकीन भद्र पुरुष को बैठे देख कर उन्हीं के पास जाकर खड़ी हो गई। चुपचाप उसने अपने गीले पलक पोंछ डाले थे। चेहरे पर कृत्रिम विलासिता सी लाकर वह पीछे से घूम सामने जाकर खड़ी हो गई और यथाशक्ति निस्सङ्कोच बोली—'चलियेगा।'

कुछ परेशान सा होकर उन्होंने कहा—हाँ ?'

'यों ही। कहीं। जहाँ आप ले चलें मैं तैयार हूँ।

कुछ विचित्र से जीव थे वह भी। बोले—मैं तुम्हें ले जाकर क्या करूँ ? तुम्हें तो मैंने पहले देखा भी नहीं।

'वही जो एक मर्द एक औरत के साथ करता है चलिए उठिये मैं तैयार हूँ। आपके साथ चलने के लिए मेरी तबियत भड़क उठी है। देर न कीजिये।'

'दूर हो कमीनी औरत सामने से। यहाँ आकर भले आदमियों पर डोरे डालती है। शरीफों के लड़कों को ऐसी ही 'फ्लर्ट' ख़राब करती है। फौरन चली जा, नहीं तो अभी पुलिस वालों को बुलाऊँगा। सारी बदमाशी हवा हो जायगी।'

रूपा चुप निस्पन्द और पत्थर। खड़ी-खड़ी एकटक उनकी ओर देखती रही। वे फ़िर ज्यों के त्यों हो बैठ गये और रूपा अब क्या करे यही सोचने के लिये कुछ दूर जाकर सामने ही घास पर धम से बैठ गई।

یہ کہانی بڑی ہی گہری ہے۔ یہ بالکل سمجھ میں نہیں آتی مگر آخر میں تو کچھ پتا چلتا ہے۔ اس کے باوجود یہ کہانی نہ دلچسپ ہے نہ مزے دار۔

[illegible]

# अन्तिम झाँकी

देहली

आधी रात की अखण्ड सूनी घड़ियाँ

मेरी भाभी !

आज इन एकाकी क्षणों में संसार के महाचक्र के आवर्तन से क्षत-विक्षत हो, परिस्थितियों से चूर-चूर होकर, जब मैं बड़ी देर तक सो न सका तब हृदय में यह लालसा जग पड़ी कि तुम्हें पत्र लिखूँ ।

तुम जानती हो भावज ! मेरी कितनी श्रद्धा तुम्हारे प्रति है और संसार का पाप कामना, कलुष, प्रलोभन एवं विकारों से रहित तुम्हारे स्नेहोज्जल हृदय में मेरे लिए जो स्थान है वह भी मुझसे छिपा नहीं है ।

आठ वर्ष पहिले जिस दिन तुम शत-शत प्रभात किरणों की स्वर्णराशि अपने शरीर में लपेटे मेरे कमरे में आकर खड़ी हो गई थीं उस समय तुम्हारे देव-दुर्लभ रूप में करुणा की, ममत्व की और अपनत्व की एक किरणोज्वल ज्योति ने फूट कर मुझे भक्ति-विह्वल कर दिया था। तुम्हारे स्निग्ध संयत विलास और करुणा की वेदना ने मुझे तुम्हारे प्यार भरे दो बोलों के लिए व्याकुल कर दिया, जैसे किसी विपुल प्रखर ऐश्वर्य से मेरा अन्तर जगमगा उठा हो।

आज आठ साल हो गये बहिन, उस किरणमयी बेला को जब तुमने ऊषा की भाँति ही प्राची भर अनुराग और सोहाग लिये मुझे अपने श्री-चरणों का स्पर्श दिया था।

इसके बाद न जाने कितनीं घटनाएँ हो गईं। जीवन-युद्ध के कितने परिच्छेद समाप्त हुए और संसार न जाने कितना आगे बढ़ गया। मेरे इस लघु दीप के समान अपनी ही ज्वाला में, लहकते हुए जीवन में न जाने कितना हाहाकार आया और चला गया। समुद्र के उन्मत्त ज्वार के समान मद भरी सुहावनी रातों में मेरे इस निर्बन्ध हृदय में न जाने कितनी उमङ्गे आईं और लड़खड़ाती हुई चली गईं। न जाने कितने सुख-दुःख के आवेग हँसते हुए आये—सिसकते हुए चले गये। परन्तु तुम्हारे पूज्य-चरणों का स्पर्श तो फिर न मिला। तुम ऊषा सी मेरे कमरे में आई और सन्ध्या सी अपनी ममता लेकर चली गईं। उसी दिन रात को बारह बजे ऐसी ही उन्मत्त कर देने वाली घड़ियों में सदा के लिए घर छोड़ कर मैं भाग्यहीन निकल पड़ा था।

तुम्हें याद है न भाभी ! तुम पूछोगी क्यों ! रोज़ इसका उत्तर तुम्हारा हृदय देता होगा। आज किस कारण से उन्हीं चीर देने वाली स्मृतियों के चीत्कार से व्याकुल, चञ्चल और लालायित हो उठा हूँ— तुम्हें यह पत्र लिखने के लिए। माफ़ करना ! माफ़ करना !

इसके बाद से मेरे हृदय में प्रलाप की जो एक भैरव-ज्वाला धधकती रही है और उसे मैंने जिस लाड़-प्यार से, जिस स्नेह के साथ अपने हृदय में छिपा रक्खा है, अन्तर्यामी को छोड़ कर और कौन जान सकता है ? इस रौद्र उत्पीड़न को मेरे जीवन-देवता के सिवाय और कौन जान पाया है ? न जाने कितना रक्त सूख कर मेरे शरीर की पिंगल रेखाओं में आत्मसात हो गया है। सच कहता हूँ भाभी, शायद तुम मुझे पहचान न सको। तुम्हें पहचानने की आवश्यकता भी नहीं है। जीवन में कदाचित अब वासनाओं के इस अपराधी को तुम देख भी न सको। तुम स्वयं ही मुझसे घृणा करना चाहो। तुम सब जानती हो, फिर भी मैंने अपने अपराध को तुमसे छिपाया।

तुम्हें याद होगी वे घड़ियाँ, जब तुम नववधू बन कर अपनी गति से लाज का पारावार बिछाती हुई मेरे निवास पर वनदेवी सी आकर खड़ी हो गई थीं। अपने विवाह के उस समारोह में भाभी, याद तो करो ? क्या उस कुमारी को देखा था ? पर न देखा होगा और आज तो तुम उसे मुझसे भी अच्छी तरह जान गई हो—उसकी फड़कती हुई चित-वन एकबारगी ही तो तुम्हें अपनी ओर खींच ले गई थी।

आज आधी रात की कुछ शीतल और कुछ उत्तप्त घड़ियों में अपने आठ साल के निर्वासित परदेशी देवर की चिट्ठी में उस कुमारी का जिक्र देख कर चौंकना मत। चौंकने की ऐसी कोई बात भी नहीं है। तुमसे क्या छिपा है? कह सकती हो—सोच सकती हो कि रात के दो बजे किसी कुमारी की सुधि करना पागलपन है—मोह है और कोई अच्छी बात नहीं है। फिर जो आज विवाहित है—अपने स्वामी के प्रेम के स्निग्ध रस में पल कर जो नदी में मुक्त स्रोत-सी बहती जाती है, जो आज मातृत्त्व के माङ्गलिक सौन्दर्य से जगमग हो उठी है; परन्तु क्या करूँ भाभी! मजबूर हूँ। तुम सब जानती भी तो हो!

यह मेरे आठ साल एक भयानक दुःस्वप्न की भाँति बीते हैं। अभी क्या, सारा जीवन ही पड़ा है। न जाने कितने दिनों तक इस गौरव में प्रलयङ्कर विकराल वेदना के इस महागर्त में सड़ना है। न जाने कितनी स्तब्ध कृष्ण रातें पड़ी हैं, जिनमें मुझे महा-मृत्यु का दुस्तर महासागर पार करना है।

मुझे तो जितनी भी स्फुलिङ्गों से दहकती हुई बिजली मिले, कम है।

सच कहना, उसी कुमारी की वह तस्वीर—वही जिसे मैं दुर्बल, कायर और आत्मसंघाती नारकी न देख सका था और अपनी तिलमिलाती हुई दृष्टि को बटोर कर मृत्यु की धीमीं-धीमीं ऐंठन से कसकता हुआ सदा के लिये अपना मकान छोड़ कर भाग खड़ा

हुआ था; जब तुम्हारे सामने आती है तो क्या तुम क्रोध से घायल नहीं हो जातीं ? क्या तुम अपने अन्तस्थल के क्षुब्ध गर्जन से हिल्लोलित हो कर एक बार इस पापी के लिये नरक कामना नहीं करतीं ? अपने ऊपर इस पापी के द्वारा किये गये पाशविक अत्याचार के विरोध में अपने रोम-रोम से ज्वलन्त अभिशाप की चिंनगारियाँ निकालती हुई वह करुणा की हाहाकारमयी सूरत जब तुम्हारे आँखों के सामने घूम जाती है तब क्या सचमुच ही तुम मुझे ठुकराने के लिए उद्यत नहीं हो उठतीं ? मैं भला कैसे मान लूँ भाभी ?

वह क्या जानती थी कि मैं कितना पतित और नीच हूँ ? वह तो भयभीता हरणी की नाईं अपना सारा दैन्य और अबलापन अपनी बड़ी-बड़ी उज्वल आँखों से बरसाने लगी थी। आशङ्का से आकुलित मेरे पैरों पर गिर पड़ी थी। पर मैं तो अन्धा था—स्वर्ग, नरक, संसार, जीवन और भगवान सब को भुला कर। उस सौंदर्य के टुकड़े को भी हित-अनहित, हर्ष, विमर्ष और जीवन-मरण को भी भूल गया था। जब आज स्मरण करता हूँ तो सन्निपात-ग्रस्त की भाँति मेरा मस्तिष्क उलट-पुलट जाता है।

इसके बाद भाभी जब वह बाल छिटकाये रात को दो बजे तुम्हारे कमरे में गई उस समय तुमने देखा होगा उसकी अस्त व्यस्त छाती को फट फट कर टूक-टूक होते। धरती फट जाती और मैं उसी में समा जाता, निस्सार और निस्सत्त्व हो कर। संसार में इस नीले

आकाश के नीचे, वसुन्धरा के ऊपर, इस से बढ़ कर जघन्य कृत्य और कौन सा है ? रेलसे कटने वाले आदमी के हाथ-पैर कुछ देर तक अलग-अलग होकर भी तड़फड़ाते रहते हैं। मैं भी कुछ वैसा ही था। मैं कायर, नपुंसक की भाँति भाग निकला। रात्रि में साँय-साँय रव में कोई पिशाच मेरा खून चूसे ले रहा था।

आज आठ साल हो गये। मैं नरक की प्रबल यातना भोगता हुआ न जाने कहाँ—किस ओर जा रहा हूँ। कौन सी अज्ञात शक्ति मुझे पीछे से ठेलती हुई उस श्मशान की ओर ले जा रही है, जहाँ से फिर शायद ही आना हो।

लखनऊ

दिन के १२ बजे

मँझले बाबू,

छोटे भैया ने जब 'बीबी, चिट्ठी लो अपनी।' कह कर तुम्हारा पत्र लाकर दिया तो लिखावट पहिचान खड़े-खड़े ही एक साँस में उसे पढ़ गई। मैं एक महीने से यहाँ हूँ। आश्चर्य है तुम यह कैसे जान गये।

मैं भला वह दिन और रात कैसे भूलूँगी !

तुमसे मिल कर बात चीत कर मैंने देखा तुम एक अधीर, भावुक और विषाद-प्रिय पुरुष हो। हृदय में एक ज्योति है, एक चमक है।

यदि एक झरने की भाँति चञ्चल, निर्बन्ध और मुक्त हो तो समुद्र की भाँति गम्भीर और प्रशान्त भी। पर तुममें मूर्च्छना अधिक है—चेतना कम। बड़ी जल्दी एक सदय सज्जित गुलदस्तों की भाँति गमक उठते हो। विद्युत-लहरों की भाँति अपनी ही गति में विपुल प्राण लेकर तरङ्गित होना तुम्हारा स्वभाव है।

जिस समय विभा मेरे कमरे में आई उस समय मैं सो रही थी। मैंने सब देखा, समझा और अनुभव किया। मेरा हृदय कसक उठा। मैंने उसे गोद में बिठाया। रात भर मैं उसे लिये कमरे में पड़ी रही। न जाने क्या-क्या बातें हुईं। क्या करोगे तुम उनको सुन कर और मैं भी क्या करूँगी उन्हें लिख कर ? लेकिन इतना कहती हूँ कि वह कुमारी ( अब तो दो बच्चों की माँ है और तुम यह सब जानते हो ) बड़ी ही भोली और सरल थी। सुबह जब तुम्हारा पता न लगा और लोग दो बजे तक खाने के लिए बैठे रहे तो औरों की भाँति वह भी उन्मत्त होकर मुझसे बोली—भाभी अब क्या सचमुच वे न लौटेंगे ?

दो दिन तक तुम न आये। रहस्य की बात कोई न जान सका। वही जो तुम्हारे दृढ़ आलिङ्गन-पाश से छूट कर सिसकती हुई बिना किसी लोक-लज्जा का ख्याल किये मेरे पास भाग आई थी जाने के दिन मुझसे लिपट कर फूट-फूट कर रो पड़ी। नारी-चरित्र की भाँति नारी हृदय भी तो रहस्यमय है ! मैंने कहा—विभा क्यों रोती हो ? परन्तु मैं भी तो रो पड़ी। सचमुच उस विभावरी के समान निश्छल, स्वच्छ और

स्नेहवती विभावरी को मैं दस ही पाँच दिनों में बहुत प्यार करने लगी थी।

उसने मेरे गले से लिपट कर कहा—भाभी, उनका पता अगर कुछ मिले तो ख़बर देना। मेरा जी लगा रहेगा।

मैंने कहा—तू इतना घबराती क्यों है? तब उसने उसी तरह फूट-फूट कर रोते हुए कहा—भाभी, मेरा हृदय बैठा जाता है। किसी अमङ्गल की भावना मुझे रह-रह कर मारे डालती है। तुम भूल न जाना। मेरा दिल लगा रहेगा।

सुनते ही मँझले बाबू, यह वही बालिका है जिसे तुमने आधी रात की उद्भ्रान्त घड़ियों में इस प्रकार सताया-रुलाया था।

मैंने उच्छ्‌वसित हृदय को दबाते हुए कहा—पागल है तू, मैं ज़रूर लिखूँगी।

मैंने उसे हृदय से लगा लिया—उसके दुःखावेग से फूले मुख को चूम कर।

उस तेरह साल की बालिका के ओझल होते ही मैं सचमुच बरस पड़ी।

फिर तो तुम्हारा पता ही न लगा—तुम न आये। घर का सारा आमोद-प्रमोद किसी अगोचर महासागर की छाती में विलीन हो गया। जिसे तुमने रात की सायँ-सायँ निस्तब्ध बेला में उत्पीड़ित किया था उसका भी हाल कहूँ? उसकी प्रत्येक चिट्ठी में आंसुओं से भींगे हुए ये

शब्द ज़रूर होते—"मेरी भाभी, अगर उनका कुछ पता लगा हो तो जरूर लिखना।"

उसकी शादी में तुम्हारे भैया के साथ मैं भी गई थी। तुम्हारी याद-गार के रूप में। अब वही तो मेरे सामने थी। वहाँ से जब मैं चली वह फिर रोई।

मैंने कहा—विभा, रो मत बेटी। उसने कलेजा निचोड़ लेने वाले शब्दों में कहा—क्यों भाभी क्या सचमुच वे इस संसार में नहीं हैं?

मैं चुप रही क्या जवाब देती?

विभा ने उसी तरह छलक-छलक कर रोते हुये कहा—भाभी, उन्होंने सचमुच मेरे ऊपर प्राण दिये। न जाने क्यों उन्हें एक बार फिर देखने की इच्छा होती है।

आध घण्टे तक हिचकी भरने के बाद—'अब वे क्या आवेंगे' कह कर दर्द से ऐंठती हुई चली गई।

जो हुआ सो हुआ। जीवन में ऐसे न जाने कितने अवसर आते हैं जब मनुष्य-मनुष्य नहीं रह जाता। कभी वह राक्षस बन जाता है कभी देवता। लेकिन अब तुम चले आओ। इस तरह का जीवन भी कोई जीवन है? भूल जाओ उस घटना को—उस दिन को—उस रात को। मेरा कहना मानो। मेरा भी हृदय है। मैं भी तुम्हारी वेदना सब मर्म-व्यथा समझ लेती हूँ। यह भी मुझसे छिपा नहीं है कि तुम्हारे हृदय की हाय-हाय तुम्हें किस लौह निष्ठुरता से उत्पीड़ित किया करती

है। लेकिन देखो, आलोक और अन्धकार, विष और अमृत, कर्दम और मर्मरोज्ज्वल फेनों का यह खेल तो अनादि और अनन्त है। युग-युग से हमारे जीवन पर इसका प्रभुत्व, इसका प्राधान्य रहा। तुम तो स्वयं विद्वान हो। पर मैंने सिर्फ दो ही चार किताबें पढ़ी हैं और इतना जानती हूँ कि यही सत्य है—कदाचित् शिव और सुन्दर भी है। कि जीवन की रहस्यमयी लीलाओं में—अखण्ड सृष्टि की निखिल माया द्वारा परिचालित जीवन-चक्र के अखण्ड आवर्तन में और मृगतृष्णा की झिलमिलाती हुई छलनाओं में खो जाना, डूब जाना, ही सब कुछ नहीं है। पाप भी पुण्य बन सकता है मँझले बाबू, आवश्यकता है केवल थोड़े से आत्मचिन्तन की, थोड़े से आलोक की—आन्तरिक त्राण की और मैं जानती हूँ—केवल कुछ ही घण्टे तुम्हारे साथ रह कर जान गई थी कि तुम में इनकी कमी नहीं।

तुम्हारी स्नेहमयी

भाभी

३

लखनऊ

सन्ध्या की अवसादमयी बेला

मँझले बाबू,

१५ दिन हो गये, पर तुम्हारा पत्र न मिला। हृदय में बेचैनी है, अकुलाहट है। कहाँ मैं उस ललक भरे कलरव में अपने जीवन में उम-

ड़ने का स्वप्न देख रही थी और तुमने पत्र भी न लिखा ! कैसी निष्ठुरता है - कैसा पागलपन है ? आख़िर तुमने पहले क्या समझ कर मुझे पत्र लिखा था ? आज वह समझ कहाँ है ? मैं तो वह पत्र पाकर फूल उठी थी। आज निराशा के महागर्त में भूलती हुई बैठी जा रही हूँ।

आ जाओ मँझले बाबू ! तुम्हारी भाभी आज सन्ध्या की इन पावन पूत घड़ियों में शान्ति, तप और निर्वासन की इस पावन बेला में तुम से यही भीख माँगती है। मैं तुम्हें घर में ले जाकर एक आनन्दमय हड़कम्प मचा दूँ।

जानती हूँ तुम्हारे हृदय के हाहाकार को, जानती हूँ तुम्हारे आत्म-दाह को भीम-प्रलय घन-गर्जना को। कुछ-कुछ समझती हूँ तुम्हारे हृदय में कितनी बेचैनी—कितनी हलचल है। सचमुच यही वहशत—यही परेशानी—यही उत्तेजना यदि समुद्र को मिलती तो वह उमड़-उमड़ कर सारे संसार को अपनी छाती से भर लेता। यदि प्रकृति को मिलती, तो सारा संसार महानाश के अट्टहास में श्वासों की भाँति ऊपर-नीचे बौखलाने लगता। लेकिन तुम भी सोचो, समझो, ग़ौर करो। तुम पर और लोगों का भी अधिकार है। उन्हें क्यों रुलाओ ?

अभी तुम्हारी उम्र ही क्या है ? तुमने संसार का कौन-सा सुख देख लिया है ! कौन-सा ऐश्वर्य भोगा है ? भरी जवानी में यह कठोर निर्वासन—यह दुस्तर एकाकी-पन तुम भोग रहे हो ! अग्नि की

भाँति अपने में ही भस्मासुर-सा प्रज्वलित हो-होकर जलते फिरते हो। यह भी जीवन का कोई इस्तेमाल है? इसलिए एक बार इस निर्वासन को ठुकरा कर फिर संसार में और देखो कि यहाँ सुख भी है या नहीं।

मनुष्य की एक बड़ी भूल है अपने ही प्रवृत्ति-मूलक या निवृति-मूलक विचारों की परिधि में अभिशप्त रहना। क्यों तुम पाप और पुण्य के इस सङ्घर्ष को चीर नहीं सकते? जीवन और फिर मानव का तो पाप और पुण्य से परे एक कहीं ऊँची चीज़ है। फिर क्या तुमने कम परिताप, कम मानसिक वेदना सही है? फिर क्यों नहीं इस आत्म-मरण और आत्म-पीड़न का अन्त कर देते?

वही विभा जो उस दिन तुम्हारे प्रति रग-रग में विद्रोहिनी हो रही थी—तुम्हारे ऊपर अभिशाप-सी बनकर ज्वालामयी फुफकारें फुफकार रही थी, किन्तु स्निग्ध और स्नेहशील हो गई है। तुम देखकर चकित हो उठोगे कि उसके सरल स्वभाव की निष्पाप प्रवृति में कितना माधुर्य, कितना निर्माल्य और कितनी स्वच्छता है। अपने प्राणपति की प्रभातोज्ज्वल छाया के नीचे उसका जीवन चक्र एक विचित्र रसगति में परिचालित होकर मातृत्व की अवर्णनीय किरण-धारा से तरङ्गित होकर एक अत्यन्त मीठे सङ्गीत का अथाह स्रोत बन गया है। उसकी ओर से मैं विश्वास दिलाती हूँ—तुम्हें अशान्त कातर और झंकरित होने की आवश्यकता नहीं।

यदि तुम उसके अपराधी हो, तो वह भी उस अन्तर्यामी के सम्मुख अपने को अपराधिनी और पापिनी माने बैठी है। यदि एक बार उसे यह ज्ञात हो जाय कि तुम जीवित हो और इस प्रकार तिल तिलकर घुट रहे हो, तो सचमुच इस आत्महन्ता के लिये बेहोश हो जायगी। मैंने उसे, किसी को भी नहीं बताया; परन्तु अब मैं अपने को नहीं रोक सकती। उस दफे तो चूक गई, परन्तु अबकी बार तुम्हें आसानी से नहीं खो सकती। जीवन का न जाने कितना समय इस दारुण वेदना को समर्पित कर चुके। तुमको आना ही होगा।

सोचो न, जीवन कितना क्षणिक, कितना छोटा और सत्ताहीन है। फिर भी इस क्षणभंगुरता को, इस व्यङ्ग को हम भूले-से रहते हैं। स्वप्न के इस छोटे-से क्षण में जीवन जितना भी बन्धनहीन, मुक्त और निर्बन्ध हो सके उतना ही अच्छा विस्मृति के इन्हीं इने-गिने दो-चार दिनों में एक अनियन्त्रित हाहाकार भर लेना कौन सा सुख है? इतने दिनों तक जिस सङ्घर्षण में तुम तपते रहे हो उसने तुम्हें पाप और पुन्य की लघु परिधि के बाहर लाकर खड़ा कर दिया है। क्या इस जाल, इस परिधि इस मण्डल से जहाँ कुछ भी नहीं है—केवल है एक भ्रम एक व्यर्थ का बवण्डर और महा कालिमा—निकलना ठीक नहीं है! इस पाश को तोड़ कर यदि तुम अलग हो सको तो देखोगे कि जीवन इतना रूखा, शून्य और असफलतामय नहीं है। जीवन में भी कुछ है—भले ही वह क्षणिक हो, सन्ध्य-स्वर्ण की भांति, अस्थिर हो चाँदनी रात सा। यदि कभी थोड़ी देर तक तुम

अपने को भूल कर ठण्डे दिल से इस पर विचार करोगे तो खुद ही जान लोगे कि जिन परिस्थितियों के आल-बाल में तुम उलझे हुए हो वे एक छलना है—एक मायाविनी भ्रान्तियाँ। कहीं कुछ भी नहीं। सब मन का भ्रम है, दिमाग़ का फितूर है और हृदय की दुर्बल लोलुपता है। केवल एक हुङ्कार से, एक ही धमक से, इस आत्म-विरोध को तुम काई की भाँति चीर सकते हो। पतन के इस सार को एक ही निश्चय में भुनगे की भाँति मसल सकते हो। जरूरत है केवल थोड़े से उभार की थोड़ी सी व्याप्ति की, थोड़े से परिवर्तन की।

बहुत लिख गई। जल्दी से जल्दी आओ मँझले भैया। इस सँकरे से ज्ञान की—इस विध्वंस भरे विधान की—याद भूल कर फिर हम लोगों में आ जाओ। तुम देखोगे कि जीवन के चल-चित्रों में एक नवीनता है—तृप्ति की एक ठण्डी छाया है।

तुम्हारी स्नेहमयी

भाभी

४

मृत्यु की शान्तिमयी गोद

चिरविश्राम की अनन्त घड़ियाँ

मेरी भाभी,

तुम्हारे दोनों पत्र मिले। मैंने पहिले का उत्तर नहीं दिया। लेकिन जानता था तुम लिखोगी। इसीलिये देहली से तुम्हारा पत्र रिडाइरेक्ट

होकर यहाँ आया। भाभी, तुम्हारे पिछले पत्र ने जीवन में क्या से क्या कर दिया ? कैसा सङ्घर्ष—कैसा विप्लव कर दिया। जिसे सन्तापित करके उसका जीवन ही मैंने सदैव के लिए नष्ट कर देना चाहा, जिसके हृदय को मैं कसाई की भाँति क्षत-विक्षत कर देना चाहता था वह अब भी मुझ पर इतना ममत्व और अनुराग रखती है। सोचो तो, जीवन में इससे बड़ा दुर्भाग्य और सौभाग्य कौन सा हो सकता है। इससे अधिक मर्मघाती भी कोई अभिशाप या वरदान है ? मुझे तो नहीं दीखता। मेरे विश्वासघात का ऐसा निदारुण बदला !

मैं यह समझता हूँ। उसका यह अपनत्व मेरे विनाश की कल्पना में ही लालित-पालित हुआ है। मेरी मृत्यु की कल्पना, मेरे अन्त के विचार से ही वह इस प्रकार कसक-कसक उठती है। कौन जाने वह गङ्गाजल का सतवन्ती रेखा यदि यह जान जाय कि मैं अविचारी आज भी जीवित हूँ और उसी प्रकार अपने निर्लज्ज जीवन की घड़ियाँ बिता रहा हूँ तो वह एक बार फिर घृणा से विचलित न हो उठे। मेरी भाभी मौत की धीमी-धीमी ऐंठन से अकड़ता हुआ मेरा जीवन और एक-एक क्षण में एक अनजान परिवर्तन में बिखरता हुआ मेरा सारा कलुष सारा पाप, सारी दुर्भावना और नीचता, जघन्यता आज तुमसे इन अन्तिम घड़ियों में यही भीख माँगती है कि मेरे इस पशुत्व से अन्ध-घृणित तूफ़ानी जीवन का अन्त हो जाय। यही भीख दो वहिन, इसी में मेरे देवता का सौख्य है। यदि मेरे जीवन में कोई भी सत्कर्म हो, हृदय में कभी भी यदि कोई पवित्र आवेग आया हो, किसी भी पुण्य

कण का स्पर्श कभी भी रहा हो तो तुम्हें उसी की क़सम है। कभी मेरी, नहीं नहीं, मेरी नहीं, विभावरी यह न जान पावे कि यह अधम-पातकी जीवित भी रहा, नहीं तो तुम सच जानना मैं सहानुभूति की यह करुणोज्ज्वल धारा भी खो बैठूँगा, मेरे जीवन का यह अनुभव तुम्हारे हाथों सुरक्षित रहे।

भयानक पतन का गह्वर आज भर जायगा। स्वर्ग और नरक, पाप और पुण्य जैसा कि तुम कहती हो सदा के लिये एक से मिल जायँगे। तुम्हारा यह भाग्यहीन अनुज सदा के लिए अपनी रक्तलिप्त सुतीक्ष्ण चीत्कार में धँस जायगा। उसने अपने जीवन में जो खोया और पाया उसी को अपनी हाहाकार भरी छाती से चिपटाये हुए। जीवन में इससे सुन्दर और क्या मिल सकता है? और इसका खोना तो बस युग-युगान्तर के लिए रौरव नरक में दहना है।

तुम्हारे शतञ्जीवी चरणों में मेरा अन्तिम प्रणाम!

मरणामत्त

मदन

# एक रात

A Good Book

I have not read

लाला रामसरनदास के यहाँ से जब बारात बिदा हुई तो रात के बारह बज चुके थे। दिसम्बर की सर्दी से भरी-पूरी रात थी और रजाइयों के भीतर वालों के भी दाँत बज रहे थे। रोंगटे खड़े हो जाते थे।

लाला जी की इकलौती लड़की की शादी बड़ी धूम-धाम से हो गई थी और अपने ही शहर के दूसरे मुहल्ले से बारात आई थी। लाला के लिये सचमुच यह बड़े सन्तोष की बात थी कि उनकी लड़की उसी शहर में रहेगी। बाहर से यदि बारात आती तो लाला के आने-जाने का किराया देना पड़ता। उसकी कसर लाला ने रख नहीं छोड़ी।

देखने वाले लाला की देनी को आँखें फाड़-फाड़ कर देखते थे। आगे आगे गैसों की कतारें और उनके पीछे सैकड़ों स्त्री-पुरुष अपने-अपने सिरों पर दहेज के सुन्दर-सुन्दर सामान लिए थे। एक अत्यन्त सुन्दर और फूलों से लदी सजी मोटर पर वर और वधू थे।

जिन लोगों के सिर पर दहेज का राजसी सामान था, वे भी इन्हीं बारातियों जैसे हाड़-मास के बने इन्सान थे। मानव से वे भी मिलते जुलते थे; यद्यपि वे स्वयं यह नहीं महसूस कर पाते थे कि वे भी मानव हैं। दिसम्बर की गलती हुई मध्य निशा में नङ्गे पाँवों जब वे बरफ-सी ठण्डी सड़कों पर फटे-पुराने चिथड़े और काले गन्दे लत्तों से लिपटे-दुबके सिरों पर कीमती-कीमती सामान रक्खे फुर्ती से चलते जा रहे थे; तब लगता था जैसे वे आदमी और जानवर दोनों के बीच की कोई चीज हैं।

बड़ी तेज हवा बह रही थी। उस रात रूपा भी कई दिन के बाद मजदूरी पा गई थी और छः आने पैसे के प्रलोभन से ऐसी रात में पाँच मील जाने का ठान उसने ठाना था। गोद में दो साल का बच्चा था जिसे घर में, अपनी कोठरी में अकेला सोता छोड़ आई थी। उसे आज उसने अफ़ीम कुछ ज्यादा मात्रा में दे दी थी; ताकि वह जल्दी जाग कर रो न सके। दूसरा बचा अभी पेट में था और दुनिया में आने की तैयारी कर रहा था। तेज़ और तीर जैसी लगने वाली हवा के झोंकों से उसके कमर के चीथड़े और सिर के अस्त-व्यस्त बाल उड़ते और गिरते थे। अभी तीन महीने हुए उसका आदमी एक बनते हुए

मकान में लट्ठों की सीढ़ियों से होकर तिमञ्जले पर राजगीरों के लिए पानी पहुँचाते समय फिसल कर सड़क पर गिरा था और उसका समूचा हड्डियों का ढाँचा अस्तव्यस्त हो गया था। तब से रूपा को जिन्दगी के मैदान में खुल कर आना पड़ा। आज कई दिन के बाद रूपा को मजदूरी मिली।

वह बाजे की आवाज पर बढ़ती, आगे चलती जा रही थी। न जाने किन अँधेरी-गुप गलियों से हवा लपटों की तरह ऊँचे सीले मकानों से टकरा कर एक-सी और खूँख्वार आवाज़ करती हुई आ-आकर उसकी हड्डियों से लगती थी। सारे शरीर में काँटे से छिदते थे। बार-बार वह चलते-चलते अपने पेट पर एक निगाह छोड़ लेती थी। किसी कदर फटे कुरते और एक न जाने कहाँ से मिली हुई अधफटी गरम बनियाइन से वह अपना शरीर ढके थी। फिर भी पेट का कुछ हिस्सा तो खुला ही था। वह खुला हुआ हिस्सा! सर्दी के तीर जैसे उसी पर आकर लगते थे। हवा फुफकार रही थी। ओस की बारिश होती थी अभी तो चार मील और जाना था। बारात के भद्र, सम्भ्रान्त और महिमा-गौरव-मण्डित पुरुष मोटरों पर लदे काले-काले मोटे ओवरकोटों से कान तक शरीर ढँके सिगार पीते हुये तरह-तरह की बातें कर रहे थे। हँसते भी जाते थे। जीवन उनके लिए एक तमाशा था। रात एक कामिक सीन थी। वे लोग बीच-बीच में आगे चलने वाले मज़दूरों की सुस्त गति पर ऊब भी जाते थे। बेहद ऊब कर और झुँझला कर एक दूसरे से कहते—'ये कम्बख्त इतना सुस्त क्यों

चल रहे हैं ? इन्हीं की वजह से मोटरों को 'स्लो ड्राइव' (धीरे चलाना) करना पड़ता है।

रूपा के ऊपर सर्दी एक नशे के समान अपना असर करती जा रही थी। रह-रह कर एक लहर-सी डुबा देने वाली, घोंट देने वाली तहस-नहस कर देने वाली उसके ऊपर आती। आसमान के तारे जलते हुए लाल-लाल फूल से टँग जाते। उसे याद आया, कोठरी में वह अपना बच्चा सोता छोड़ आई है। बाहर से ताला बन्द है। एक ओर आले में छोटी सी कुप्पी जल रही है। छोटा सा बच्चा जब जागेगा तो कुछ देर तक तो इकटक चिराग़ की ओर देखेगा; गोया माँ के जग पड़ने का इन्तजार कर रहा हो। फिर एक बार माँ! माँ! कह कर रो उठेगा। रूपा की साँस जैसे बैठने लगी। आज तक वह कभी बच्चे को छोड़ कर इतने अर्से के लिये घर से बाहर नहीं हुई थी।

वह चली जा रही थी, धीरे-धीरे अपने पेट पर हाथ फेरती हुई। उसे ऐसा लगा जैसे पेट के अन्दर जो बच्चा कभी-कभी चलता-फिरता था, वह सर्दी से जमकर एक पिण्ड-सा बन गया है और सिकुड़ कर एक जगह बैठ गया है। उसके दिल के भीतर एक छटपटाहट शुरू हो गई और वह वैसा ही हाथ फेरती गई। न जाने क्यों पेट के भीतर पनपने वाले इस लोथड़े के प्रति उसे एक विकट मोह था। सामने लेटे हुए बच्चे से भी भारी सन्तोष वह उसे देता था। शायद इसीलिए कि अब उसकी कोख में सदा के लिए ताला लग जायगा।

उसने धीरे-धीरे अपना हाथ उस पर रगड़ना शुरू किया, जिससे सर्दी की जड़ता कुछ तो दूर हो। कुछ तो रक्त का सञ्चार शुरू होकर उसे गर्म कर दे। थोड़ी देर तक ऐसे ही वह एक हाथ से फूलदान थामे और एक हाथ से उस बच्चे के खोल पर हाथ फेरती चलती गई। उसे अनुभव हुआ जैसे उसके अविरत स्पर्श से वहाँ कुछ गर्मी पहुँची और वह फिर सजीव हो उठा। उसने हौले-हौले उसकी कुलबुलाहट भी अनुभव की। परन्तु शरीर भारी और थका-सा लगता था। अब उसे चलने में एक प्रकार की असमर्थता लगने लगी। जब तक वह पेट का बच्चा जड़ और निस्तब्ध पड़ा था, तब तक उसे थकावट नहीं थी। उसके करवट लेते ही और कुलबुलाते ही वह जीवन की अनुभूतियों के प्रति जाग उठी। अब तक वह स्वप्नाविष्ट दशा में चली जा रही थी। उसे तन मन और समय का कुछ होश नहीं था। चलना था इसी से चली जा रही थी। एकाएक उसे तेल के स्वाद के साथ गले में कड़वी मचली-सी प्रतीत होने लगी, जिसमें उसके बढ़े हुए पेट तक सारा शरीर हिल गया। वह जाग उठी और उसे प्रत्येक चीज़ अनुभव होने लगी। सर्दी भी पहले से ज्यादा लग चली और पैर सड़क पर गलने लगे। कानों में न जाने कैसी कैसी आवाज़ें आने लगीं। आँखों के सामने अजीब-अजीब दृश्य दिखाई देने लगे। उसे ऐसा लगने लगा कि जैसे चारों ओर से उसे कोई अपनी ओर बुला रहा है। समूचे शरीर में झुनझुनी मालूम पड़ने लगी और आँखों के सामने एक बाढ़—एक

प्रवाह सा घूमने लगा। कैसी विलक्षण गति थी वह भी! उसकी नाक से पीला नेटा बहने लगा। वह फिर सोचने लगी—वह मर तो गया, पर आखिर गया कहाँ को? क्या बिछुड़ने के लिये ही वह उसे मिला था। और अब न लौटेगा। पिछले साल इन दिनों तो वह उसके पास था और ऐसी भयानक सर्द रातों में वह उससे चिपट कर घोसले में चिड़िया की तरह हो जाती थी। वह कितना भोला, जिद्दी और विनोदी था! अब उसके जीवन में रह ही क्या गया है। यों ही रञ्ज में घुलते रहना और बूढ़ी हो जाना। फिर उसका ख्याल उस बच्चे की ओर गया जो कोठरी में है। आज दिन में उसका सारा शरीर तप रहा था। सारे दिन रोता और सिसकता रहा। उसका गला भारी होने लगा और बार-बार उसका हृदय पीछे उसी कोठरी की तरफ़ लौटने लगा। अब शायद अफ़ीम का नशा उतर जाने पर वह जाग पड़ा होगा और रोते रोते अपनी आँखें मल रहा होगा। टूटी हुई बाँस की बाँसुरी की तरह उसके भीतर का स्वर बज उठा। एक अजीब बेसुरापन उसके मस्तिष्क की रेखाओं में घूमने लगा। उसे ऐसी इच्छा हुई जैसे वह बदहवास-सी होकर अपने बालों को नोचे और एक उत्पात मचा डाले। अब वह कुछ हाँफने भी लगी थी और उसका एक-एक रोम सर्दी से हकबकाया-सा खड़ा हो रहा था। आख़िर कब यह रास्ता ख़त्म होगा। मोटरों पर बैठे बाराती भी ऊँघने लगे थे। जो अपने सिरों पर सामान लिये अपने जैसे ही एक के दहेज का सामान लादे चले जा रहे थे, वह भी अस्तित्वहीन, सत्तारहित, प्रेत से दीखते थे,

जैसे सिनेमा में पर्दे पर डोलती तस्वीरें जो बे जान होती हैं। रूपा से अब तो बिलकुल ही चला नहीं जाता। एक-एक क़दम बिलकुल भारी है और उसके पैरों की मांस-पेशियाँ जैसे अकड़ गई हैं—एक-एक हड्डी दुखने लगी है। वह करे भी तो क्या करे। यदि यहाँ से आगे बढ़ने से इन्कार करती है तो क्या मज़दूरी में छः आने पैसे मिल सकेंगे! उसने एक बगल में चलने वाले अधेड़ मज़दूर से, जो सिरपर क़रीब १ मन का बड़ा पीतल का जञ्जाल लादे हुए था, पूछा—'क्यों! कितनी दूर और अभी है वह जगह, जहाँ से बारात चली है?'

बोझ और सर्दी से उस ग़रीब की नसें फूल गई थीं, जैसे लाश दो-एक दिन के बाद फूलना शुरू कर देती है और एक विचित्र तनाव ले लेती हैं। उसने बड़ी मुश्किल से रूपा की ओर देखकर अपनी आँखें तो फेरीं। कोशिश करने पर भी मुंह से आवाज़ नहीं निकल पाई। बोलना उसके लिये बहुत बड़ा कष्ट था जैसे। हाँ, उसकी बिथरी आँखें जो बाहर की ओर निकली आ रही थीं, बोल उठीं—वे लोग यहाँ हैं। रूपा ने उसकी ओर देखकर अपनी आँखें मूँद लीं। रूपा को ऐसा लगा जैसे वह बोझे से दबकर अब बैठा और अब बैठा। उसे एक बूढ़े भैंसे की याद आ गई जो एक ईंटों से भरी गाड़ी खींच रहा था; परन्तु अकेला प्रत्येक क़दम पर हाँफ जाता था। आख़िर जब उससे नहीं चला गया तो वह एक जगह बैठ गया था और गाड़ी वाले ने उसके ऊपर सपासप हण्टर चलाना शुरू किया था परन्तु रूपा ने

तो देखा था वह बैठा ही रह गया। रूपा को ऐसा लगा जैसे यह भी अब बैठा और अब बैठा। एक गहरे मार्मिक आघात की तरह उसकी शक्ल रूपा की रगों में दौड़ गई। वह उसकी ओर से घूमकर एक दूसरी औरत से जो ठीक उसके दूसरी बग़ल चल रही थी, यही पूछने लगी! उसने कड़वी निगाह से रूपा को देख कर कहा—'क्यों, क्या चला नहीं जाता? तेरे पेट में तो बच्चा मालूम होता है।'

रूपा—'हाँ बहन! यही तो पूछती हूँ। अभी कितनी दूर और चलना है! मैं तो कुछ देर सुस्ताना चाह रही हूँ। पैर भर आये हैं।' उसने एक अधेड़ और भोंड़ी हँसी हँस कर कहा—'तो बैठ जा किसी मोटर में। किसी बाबू की बग़ल गर्मा दे। अभी तो बहुत दूर है; क्यों आई थी बोझा ढोने तू! अभी तो तेरा ज़माना है।' रूपा के बर्दाश्त के बाहर हो गई यह बात। बिलकुल अचेतन और बेखुद हो गई वह उसी औरत की तरफ़ देखती, डगमगाती, लड़खड़ाती रूपा उसी के ऊपर गिर पड़ी। एक हैबतनाक चीख मार कर उस औरत ने जो गिरते-गिरते भी सँभल गई थी, रूपा को कोसना शुरू किया—'हराम-ज़ादी! छिनाल! नख़रा करती है। क्यों आई थी, यदि बोझा नहीं ढोया जाता! राँड़! तुझे मेरे ऊपर ही गिरना था।'

बीस सेर का पीतल का फूलदान तारकोल की पक्की सड़क पर गिरा और झन्ना कर बड़ी ज़ोर से बोला। उससे ऊँघते हुए बाज़दारों, मज़दूरों, गैस वालों और मोटर वालों की ऊँघ टूट गई। एक काण्ड-सा खड़ा हो गया। एक साहब जो बारात के अगुआ से ज्ञात होते थे,

आँखें डबडबाते हुए मोटर से उतर आये और डाँटते हुए ज़ोर से बोले—'क्या हुआ ? तुम लोग रुक क्यों गये !'

वह अधेड़ औरत अब भी भद्दी-भद्दी गालियाँ दिये जा रही थी। रूपा नङ्गी सड़क पर आँखें मूँदे पड़ी थी, जैसे उसे गिरने में और इस प्रकार निश्चेष्ट ढीला लेटने में बड़ा आराम मिल रहा हो ! कौन जाने वह बेहोश ही रही हो। बाबू साहब ने उसके पास आकर उसकी कमर में एक लात लगाते हुए कहा—'अरी उठ-उठ !' फिर फूलदान की ओर देखते हुए बोले—'क्या टूट गया यह। हरामज़ादी ने बड़ी बद-शकुन की। देखो तो तुम लोग यह फूलदान टूटा तो नहीं ? दरारें तो ज़रूर पड़ गई होंगी !'

मगर कौन डोले। सभी को तो हँफनी आ रही थी। चलते-चलते सभी के तन दुखने लगे थे। दिमाग़ बेठिकाने हो रहा था। अपना बोझा कहाँ और कैसे रखते; जो बाबू साहब का कहना करते !

'अरे, तुम लोग देखते क्यों नहीं ! यहाँ कब तक खड़े रहेंगे। डेढ़ तो बज रहा है। घर भी तो पहुँचना है। वहाँ औरतें इन्तज़ार करती होंगी।'

एक गैस वाले ने तब तक अपना गैस उतार कर रख दिया था। हल्के होकर उसने फूलदान को उठाकर सीधा सड़क पर रख दिया था। फूलदान में दो-तीन जगह गहरी दरारें पड़ गई थीं और ऊपर की मोड़ी का एक टुकड़ा टूट गया था। एक अङ्गहीन मानव-सा वह

बदसूरत और घटिया हो गया था। गैस वाले ने बाबू साहब के सामने लाकर उसे सीधा करके दिखाया और बाबू साहब ने उसे देखा, उनकी आँखों से गुस्से के शरारे निकलने लगे। वे उन्मत्त से होकर रूपा को लातों से मार चले। दस-पांच लातें लगने तक रूपा ने एक भी जुम्बिश न ली। उसका सारा शरीर जैसे चट्टान हो गया था। लगातार लातें पड़ते-पड़ते उसकी चेतना लौटी। उसने आँखें खोलीं। उसे होश में आते देख कर वे गरज कर बोले—'तुम लोग कमीने हो! लातों से मानते हो, बातों से कैसे तुम्हारा पेट भरेगा। बोल तूने क्यों गिराया यह फूलदान? उसे तोड़ डाला तूने! अगर नहीं चला जाता था तुझसे तो क्यों तू आई थी? यहाँ भी तूने हमसे क्यों नहीं कहा? हम उसे किसी दूसरे के सिर पर रख देते और तुझे चला जाने देते। बोल, जल्दी जवाब दे। नहीं तो अब की हण्टर से बात करूँगा। सारा शकुन किरकिरा कर दिया। चुड़ैल, कुतिया कहीं की।'

रूपा की आँखें लाल-लाल हो गई थीं। खून-सा उतर आया था उनमें। उनमें आँसू न थे। एक अजीब कुरूपता उसके चेहरे पर आ गई। आघातों से पीड़ित वह अपने पेट से अगले और उठे हुए भाग को दोनों हाथों से ढाँपे उठने का यत्न कर रही थी—'मैंने जान-बूझ कर नहीं गिराया मालिक! एकाएक मुझे चक्कर आ गया और मैं बेहोश हो गई, गिर पड़ी। अब मत मारो मुझे, मेरे पेट में बच्चा है सरकार।'

'बच्चा! किसका है वह?' रूपा की आँखों की लाली और गहरी

हो गई। एक रमक सी उसके चेहरे पर आई—'मेरे आदमी का है मालिक! और किसका है?'

'ख़ैर, किसी का हो। मगर तूने मेरे रङ्ग में भङ्ग कर दिया है। बारात में दहेज की चीज का रास्ते में इस तरह टूट जाना कितना असगुन है। इतना बड़ा और कीमती फूलदान था। बहू के कमरे के लिए ख़ास तौर पर भेजा गया था। तूने तोड़ डाला, कौन देगा इसका दाम! तूने जान-बूझ कर यह बदमाशी की है। हम तुझे पुलिस में देंगे। तुझे इस नुक़सान का दाम देना होगा।'

'दाम देना होगा?'—जितने का यह होगा, उतना तो रूपा ने कभी देखा भी नहीं है। उसकी नसों में फिर उत्तेजना फैली। रूपा का दिमाग़ फिर ढीला होकर गिरने लगा। दोनों हाथों में अपने पेट का उठा हुआ हिस्सा दबाये, वह फिर शिथिल और बेहोश हो चली। उठी हुई गर्दन और सिर फिर सड़क पर भड़ से गिर पड़ा।

'नख़रा करने लगी सुअर की बच्ची!'—कहते कहते एक दूसरा नवयुवक जो पहले से ही पास खड़ा था रूपा को ठोकरों से मार चला।

'क्यों साहब क्या हो रहा है? क्या रात सड़क पर ही कटेगी! आप लोग आख़िर कर क्या रहे हैं! क्या इस ग़रीब दुखिया औरत को मार ही डालियेगा? जाने भी दीजिए, जो नुक़सान हुआ वह हुआ। अब हो भी क्या सकता है? चलिए! उस फूलदान को किसी दूसरे

मजदूर के सिर पर रखवा लीजिए। आख़िर हम लोगों को भी तो घर जाना है। हम लोग खानाबदोश की तरह सड़क पर तो रात नहीं काट सकते ?'

सन्निपात की सी सजग और सङ्घर्षमय बेहोशी में रूपा तिलमिलाती जाती थी और बूट की प्रत्येक ठोकर पर घड़ी के पेण्डुलम की भाँति इधर उधर होती थी। ठोकरें मारते मारते और खाते-खाते दोनों ऊब से रहे थे। आख़िरी ठोकर पूरे ज़ोर से मारते हुये उस मिलकियत के पुतले ने गरज कर कहा—'पड़ी रहने दो इस हरामज़ादी को यहीं। कुछ मज़दूरी देने की ज़रूरत नहीं है। तुम में से कोई दूसरा इस फूलदान को उठा ले। उसे ज्यादा पैसे मिलेंगे। और चलो। मर जाने दो इस सुअर को।'

बारात फिर चलने को हुई। काफ़ी देर वहाँ इस विराम में लग चुकी थी। वहाँ से चल देने के लिए एक उन्मादमयी उत्तेजना का सब लोग अनुभव कर रहे थे। एक तन्दुरुस्त मज़दूर ने आगे बढ़, अपने सिर के ऊपर वह फूलदान रख लिया। लोग आगे बढ़े। एक गैस वाले ने दया कर रूपा को घसीट सड़क के किनारे नाली के पास कर दिया। बीच सड़क पर पड़े रहने से उसकी जान का खतरा था। ताँगा, मोटर या लारी के नीचे कुचल जा सकती थी वह।

रूपा वहीं पड़ी रह गयी। एक नशे में चूर सी वह आँखें खोलने की कोशिश करती थी; मगर आँखें खोल नहीं पाती थी। बदन में

चिनगारीउठ रही थी, प्रतिक्षण उसे पहले वाले क्षण से और ज्यादा कमज़ोरी मालूम होती थी। आँखों के सामने कोई चीज़ जमती नहीं थी। दिमाग़ किसी बात को सोचने पर स्थिर नहीं हो पाता था। वहाँ से उठने की कोई इच्छा भी अब शेष न थी। आराम से वह वहीं पड़ी रह जाना चाहती थी। हवा बहुत तेज़ी से आ-आ कर लगती थी। हड्डियाँ दर्द से ऐंठी जा रही थीं। मरघट की-सी नीरवता उस समय चारों ओर व्याप्त हो रही थी। रूपा को रह-रह कर ऐसा लगने लगता था जैसे उसका पेट फट जायगा और भीतर का बच्चा निकल पड़ेगा। तकलीफ से छटपटाती वह वहीं पटरी पर कीचड़ और गुबार के ऊपर लोटने लगी। गधे की तरह मारे सर्दी के आँखों में बरसात के बाद की धुन्ध भरी चली आती थी। उसे अब भी ऐसा लगता जाता था जैसे उसके ऊपर ठोकरें पड़ रही हों! दोनों हाथों की हरकत उसी तरह जारी थी और वह मिट्टी कुरेदती जा रही थी। उसकी छाती के भीतर धुकधुकी तेज़ थी। तो क्या वह पागल होती जा रही है? उसकी चेतना तो लुप्त नहीं थी। उसे तकलीफ तो वैसे ही हो रही थी। उसने पेट पर फिर हाथ फेरा। उसे मालूम पड़ा कि भीतर का सब कुछ सिमट कर एक कोने में बेल के बराबर बन गया है। बाक़ी सब हिस्सा खोखला खोखला सा था। लेकिन पेट तो अब फटा अब फटा। अब भी कोई उसे रौंद रहा था। सिमट कर वह कोने से चिपटा जा रहा था और जैसे नीचे आता था। मारे तकलीफ़ के रूपा सिहरती थी जैसे वह एक पिण्ड बनकर उसके पास और बहुत पास, बहुत-बहुत

पास आना चाह रहा है। रह-रह कर एक धीमी, किन्तु भेदक चीख़ उसके मुँह से निकल आती थी। पेट के ऊपर वह अब भी हाथ फेरती जा रही थी परन्तु पेट तो अब कुछ खाली-खाली सा लगता था। पेट के भीतर अड़चन पर अड़चन आ रही है। जैसे दिल डूब रहा हो। क्या करे रूपा ! रात को दो बजे सड़क पर अकेले नाली के पास पड़ी-पड़ी वह किसको याद करे। उसके नेत्रों के सामने अब कुछ साफ होने लगा कैसे वह शाम को फूलदान अपने सिर पर लेकर बारात के साथ चली ! कैसे रास्ते में उसे थकावट आई और फूलदान गिरा ! इसके बाद कैसे उसके ऊपर मार पड़ी और ठोकरों से उसका शरीर सूजा ! उसे अब भारी बुखार मालूम हो रहा था। सर्दी से छाती का कफ जमा जाता था। कैसे उसके भीतर का यह मांस-पिंड सक्रिय होकर भीतर चलने-फिरने लग जाय। तभी शायद उसे इस भयङ्कर यन्त्रणा से चैन मिल सके। एक अनहोनी कठिनता से उत्तेजित होकर उसने उठ कर बैठ जाने या खड़े होने की कोशिश की; परन्तु उसकी वेदना उसे नीचे कुएँ में गिराए जाती थी। सहसा दर्द का एक ऐसा लहरा आया कि रूपा ने आँखें मींच कर अपने दोनों होठ काट डाले और ख़ून छलछला उठा। एक दुरूह और दुर्भेद्य अमानुषिक भाव उसकी ठण्ढी और जमी हुई आँखों में तिर आया। एक बच्चा वह जन चुकी थी। ब्याने वाली गायों और भैंसों को भी भयङ्कर चीत्कार करते उसने सुना-देखा था।

झंझावात का सन्नाटा तब भी रो रहा था। पीड़ा से वह उसी

क़साई जैसी सख़्त और पत्थर हो रही थी जो एक ही झटके में काम तमाम कर देता है। क्या उसके पेट से बच्चा निकल पड़ेगा ? परन्तु अभी वह पूरा बच्चा कहाँ है। मुलिया जैसी क्या उसकी भी गति होगी। वह ख़ून से तर बतर होती जा रही है। शरीर से गाढ़े-गाढ़े ख़ून की धार बँधती आती है। रूपा छटपटा-छटपटा कर दम तोड़ने लगी। वह भीग गई थी। ख़ून के साथ बीच-बीच में कुछ माँस के लोथड़े भी कट कट कर बाहर निकले आ रहे थे। चील के घोंसले से छिछड़े जैसे।

# भूल न सकूँ

शुरू से ही जीवन में आँखें खोल कर चलने का अभ्यासी रहा हूँ। सदैव यह मानता आया हूँ कि संसार बहुत बड़ा है जिसका ओर-छोर भी कल्पना में अँटने से इन्कार करता है। उससे भी एक बड़ी चीज़ है—अधिक महान्, अस्थिर दुरूह और अतल, अकूल। वह है जीवन। परन्तु जीवन से भी बढ़ कर महान है मनुष्य। जीवन विश्व की जड़ में अपने को सींच कर अज्ञात ही रह जाता है और मानव समझ में न आने वाले जीवन के मूल में पैठ कर एक अन्धी, अप्रतिरोध्य गति से संघर्ष करता है। तब तो वही सब से बड़ा ठहरा न।

कहानी एक चरित्रहीना विधवा की है। मेरे जीवन में सच पूछा जाय तो एक भी ऐसी घटना नहीं है जिसे मैं महिमा-मंडित जान कर पाठकों के सम्मुख रक्खूं। परन्तु आज जो लिखने बैठा हूँ वह तो मेरे जीवन में बड़ी प्रचंडता ले कर आई है। संसार की कठोरता और उत्पीड़न का बोझ अपने ऊपर ले कर चलने वाली एक अभागी मानवी की यह कथा है जो आजीवन बूँद-बूँद दर्द इकट्ठा कर के अपने

८

भीतर भरती गई और अन्त में सारा दुःख विधाता का ही दुःख मान कर प्रेम में ही जीवन की इतिश्री बोल गई। एक विधवा के लिये प्रेम करना और वह भी एक ब्राह्मण विधवा के लिये एक ठाकुर से प्रेम करना और आजीवन मस्तक ऊँचा करके चलते जाना उस रूढ़िग्रस्त देहाती-समाज में जहाँ आडम्बर और रूपक ही आदमी को पुजवाता है, सुनने में चाहे जितना भी साधारण लगे परन्तु है एक महान प्रयोग ही।

असल में वे मुझ से आठ साल बड़ी थीं। दूर के रिश्ते की बहिन भी उन्हें कह लिया जा सकता है। मुझे उनके पास बैठ कर घंटों उन से बातें करने का संयोग प्राप्त हुआ था। उस समय तक औरत मेरे लिये एक बेमानी चीज थी। कवि बच्चन के शब्दों में सेक्स की चेतना पूर्ण रूप से जागृत होते हुए भी और "वासना पूर्णतम होते हुए भी तब मैं संयमी था।" आज तो मैं बड़ा से बड़ा पातक आँखें ढक कर ज्यों का त्यों निगल सकता हूँ और उन्हीं का भीतरी बल मेरे जीवन में उठती हुई आँधियों को थामे भी रहता है। परन्तु उस समय तो मैं सच्चा हो कर किसी के प्रति निवेदित और समर्पित होने का मूल्य भी नहीं जानता था। शहर में होस्टल में रह कर पढ़ता था और जब छुट्टियों में गाँव जाता था तब कुन्ती दीदी की गाथा सुन-सुन कर, गाँव वालों के मुंह से उनका और ठाकुर का रास-विलास सुन-सुन कर मन ही मन नारी की इस कमज़ोरी पर दग्ध होता था। सती का आदर्श तन देना अवश्य है परन्तु एक भूखे मानव की भूखी वासनाओं को नहीं वरन् पाप और पुण्य एकाकार कर देने वाली अग्नि की रक्तिम लपटों को। समाज से अलग रह कर भी कोई इस प्रकार उसकी

कल्याण-कामना और मंगलाकांक्षा में जुट सकता है, यह सब मैं उस समय कहाँ समझ पाता। समाज का जूठन बनना पसन्द करके भी और जीवन के साथ एक नया प्रयोग करके, जो जीवन भर एक अनिर्वचनीय सुषमा और सान्त्वना पाती रही अपनी ऐसी दीदी को मैं उनके जीते जी तो समझ ही न सका।

नौ वर्ष की अवस्था में वे विधवा हुई थीं। विधवा हो जाने से जीवन की साधें, क्षुधा, तृष्णा, द्रोह, मोह आदि प्रवृत्तियाँ और प्रेरणायें कहाँ चली जायें। उन्हें भी तो इसी हृदय के घोंसले में रहना और मानव का जीवन बनाना या बिगाड़ना होता है। दीदी ९ साल की अवस्था में विधवा हो कर जब बढ़ कर १३ साल की होने आईं, तभी उन्हें यह मालूम पड़ने लगा जैसे उनका कुछ खो गया है। उन्होंने मुझे कई बार बताया भी था कि कैसे धीरे-धीरे उनके अन्दर यही भावना जोर पकड़ती जा रही थी और उनके अन्दर न तो विचार ठहरता था और न अविचार, न पाप और न पुण्य। १३ वर्ष की उमर की उस अधपकी विधवा ने जब ब्राह्मण परिवार में होने वाले सारे पूजा-पाठ, धर्म-कर्म और उपदेश संयम की बातों को मानने से इन्कार करना शुरू किया तो सारे गाँव में तहलका मच गया। एक विधवा जो अपने पूर्वजन्म के ऐसे ही पापों से इस जीवन में मसल दी गई फिर भी आँखें नहीं खोल रही। फिर तो न जाने कितने जन्मों तक उसे ऐसे ही जलना और सूखना पड़ेगा। परन्तु दीदी की मुस्कान तो ऐसी थी जिसे आदमी भूल नहीं सकता था। क्षण भर होकर उसी क्षण बुझने वाली अनबूझ मुस्कान देखने वाले के अन्तर में कभी की दुबकी हुई—छिपी हुई

पीड़ा को घनीभूत करती थी। उस समय समवेदना का एक ऐसा पुलक प्रवाह पूरी देह में फूटता था जो देखने वाले को अभिभूत करके दीदी को उनकी दृष्टि में अति-मानवी बना देता था। उनकी वाणी की गीली वेदना मर्म को छूती थी और उनकी मुस्कान की खुश्की अन्तर को भिगो देने वाली कचट रखती थी।

एक बात और पूँछना चाहता हूँ। आखिर जीवन में पाप-पुण्य की समीक्षा करने के स्थल हैं कौन से और कहाँ। यदि हम अपने भीतर के सत्य को अस्वीकार न करें और बाहर के असत्य को अग्राह्य कर दें तो जीवन के कितने असौख्य और अभाव न मिट जाँय। उठती हुई लौ सी जिनकी जिंदगी हो और अंगार सी जिनकी आत्मा हो, उनके सामने भी जब हम कर्तव्य और अकर्तव्य के ऊपर अपना मन्तव्य देने लगते हैं और पाप पुन्य की परिधि में लाकर उन्हें सताने लगते हैं तब हमारी मज्जा में टिका हुआ पशुता का कीड़ा क्या हमें खोखला नहीं कर चलता। यही बात रह रह कर मेरे मन में आया करती है। दीदी को समाज ने कितना गलत समझा। मैंने भी उनसे कितने समय तक कितनी घृणा नहीं की। उनके मुंह पर उन्हें कामुकी और वेश्या तक कह डाला। बार-बार उनके बुलाने पर भी नहीं गया। यही नहीं ठाकुर की स्त्री से भी मैंने कई बार यह कहा कि देखो कुन्ती का दोष इसमें जो है वह तो है ही, परन्तु तुम्हारा दोष भी इसमें कम नहीं है। तुम क्यों नहीं ठाकुर को समझातीं और उसे कुन्ती के पास जाने से, उसे रुपया और जेवर देने से मना करतीं। कुन्ती तो बदमाश है ही, परन्तु तुम कैसे अपने पति को इस पापकुन्ड में जाने दे रही हो। तुम्हारे सामने

तुम्हारे विवाहित पति पर एक गैर औरत कब्जा किये है। तुम्हारे घर का सारा सामान और ज़ेवर उसके यहाँ पहुँचता जा रहा है फिर भी तुम कोई ध्यान नहीं देतीं।

आज मैं उतना छोटा और कच्ची बुद्धि का नहीं हूँ। आज सोचता हूँ कि वह बेचारी करती भी तो क्या? ठाकुर पुरुष था, उसका स्वामी था। उसके शरीर का—दिल-दिमाग़ का। उसकी प्रवृत्तियों और इच्छाओं पर उसे पूरा अख्तियार था। वह जब चाहे अपनी व्याहता पत्नी का इस्तेमाल करे और जब चाहे तब उसे निर्जीव छूँछे पिंजर सा ठुकरा कर धूल में फेंक दे। उस समय ठकुराइन बेचारी मेरी बातें सुनती और रोकर रह जाती। मैं उनकी मनोदशा और मनोव्यथा को तो न समझता था परन्तु कुन्ती दीदी की तरफ़ से मेरा मन घृणा से और भी भर जाता।

कुन्ती के और ठाकुर के इस मुक्त सम्बन्ध से और खुले हुए पापाचार से, उसके माता-पिता, चाचा, भाई जब सब ऊब उठे तब उसकी स्वेच्छता और उच्छृंखलता से परेशान होकर उन लोगों ने उसे घर से निकाल दिया। उस परीक्षा के समय ठाकुर सामने आया और उसने गाँव में एक अलग मकान लेकर कुन्ती को उसमें रक्खा। सारे गाँव में तहलका मच गया। दिन-दहाड़े एक ब्राह्मणी जो युवा और विधवा हो, इस प्रकार एक ठाकुर द्वारा रख ली जाय। गाँव के ब्राह्मणों में क्षोभ फैल गया। मैं भी जब गर्मी की छुट्टी में गाँव गया और वहाँ जाकर यह सब सुना तो मारे क्रोध के उबल पड़ा। शाम को कुन्ती के यहाँ जाने की सोच ही रहा था कि नौकरानी ने आकर कहा—छोटे भैया, बिटिया ने आपको बुलाया है।"

यह दुःसाहस ! बेशर्मी की भी एक हद होती है। मैंने सोचा कि यों तो शायद मैं न भी जाता परन्तु अब तो जरूर जाना चाहिये। मैं चला। घर में भीतर पहुँचते ही उस एकहरी, वशीभूत और स्निग्ध नारी ने दीपक की लौ सी फूटते हुए कहा—'बैठो, छोटे भैया। शायद तुम बिना बुलाये यहाँ आना पसन्द न करते, इसी से मैंने सुनरी को भेजा था। देखो यह घर तुम्हें पसन्द है।'

मैं उस साल हाईस्कूल की परीक्षा देकर गया था। शहर में रहने वाला और तुर्की ब तुर्की जवाब में कुशल। कुछ कुढ़ते हुए बोला—'मकान तो बुरा नहीं है परन्तु यहाँ जो कुकर्म होता है वह हम लोगों को गांव में सिर नहीं उठाने देता।'

फिर वही सौहार्द भरी हँसी जैसे भाग्य के साथ और जीवन की विभीषिकाओं के साथ एक गहरा समझौता हो गया हो। जो झेला है सब पी गई है और जो झेल रही है वह सब रस बनता जाता है। बोली 'क्यों भैया कुकर्म यहाँ क्या होता है ? जो घर घर में होता है वही तो यहाँ भी होता है। संसार में एक पति के न होने से मेरा कोई नहीं है; यों माता-पिता, चाचा चाची सब हैं। कौन ऐसा है मन में जो मेरा ज़हर धारण करे। मिठास तो सभी चाहते हैं। वे भी चाहते हैं, हम भी चाहते हैं। परन्तु मेरी जो ज्वालायें हैं, जो अन्धड़ हैं, उन्हें कौन सहन करेगा। और जो यह सब बरदाश्त करता है—सहर्ष मेरा नाज़ और अन्दाज़ उठाता है, उसे मैं यदि घण्टे दो घण्टे के लिये अपने शरीर पर पूरा अधिकार दे देती हूँ तो क्या बुरा करती हूँ।

एक निर्भय स्नेह से मेरी ओर देखते हुए उन्होंने बहुत सी बातें कही थीं। वही मेरी उनकी आखिरी भेंट थी। उन्होंने बाद में कई बार बुलवाया भी परन्तु मैं न गया। चलते समय तक मैंने उन्हें न जाने कितनी बातें कह डाली थीं, चलने के पहिले उन्होंने कहा था— 'देखो छोटे भैया औरत और मर्द में कोई विशेष भेद नहीं होता। परन्तु फिर भी एक दूसरे के लिये एक दूसरा आवश्यक है। फिर मेरे लिये प्रेम करना और प्रेम करके माँ बनना यह गलती कैसे है। प्रेम है क्या? अपने को अपूर्ण से पूर्ण करने का यत्न। जिससे मिल कर हम पूर्ण बनने चलें वही हमारा प्रेमी है। फिर दान तो स्त्री का धर्म है उसकी मूलवृत्ति है। मैं कैसे अपने पास इतना रूप, इतना यौवन और भावनाओं का एक अपना ही संसार लिये अकेली जी सकती हूँ। मुझे भी तो एक सम्बल चाहिये। आवरण और निरावरणता का प्रश्न ही जहाँ न रह जाय। मेरा सारा अस्तित्व जो अंगीकरण के लिये है अस्वीकरण की ओर जाय भी तो कैसे?'

ऐसी ही न जाने कितनी बातें उन्होंने कही थीं और मैं उनकी उच्छृङ्खलता और नीचता पर प्रज्ज्वलित होता घर लौट आया था।

* * *

छुट्टी खतम होने में ७-८ दिन ही रह गये थे। इसके बाद फिर मैं कुन्ती के यहाँ नहीं गया। यद्यपि जाने की इच्छा यदा कदा होती थी। फिर भी जा नहीं पाता था। सहसा एक दिन सुबह उठ कर जो सुना उससे बड़ा विचित्र कौतुक हुआ। इधर दो तीन दिन से ठाकुर बीमार था और आज ही रात को तीन बजे चल बसा था। आखिर शत शत ब्राह्मणों के अभिशाप खाली कैसे जाते।

प्रश्न आया—अब कुन्ती का क्या होगा ! परन्तु तत्काल उत्तर मौजूद। उसके लिये क्या है ? वह तो चरित्रहीना है। उस बार एक ठाकुर था—अब की बार कोई बनिया सही। जो तन बेचने वाली है उसे कैसा भय और विवेक। फौरन मैं घर से निकल कर ठाकुर के दरवाजे पर पहुँचा। लोगों की भीड़ लगी थी घर में भीतर जाकर देखा—एक ओर खाट पर ठाकुर का स्वस्थ सुन्दर शरीर पड़ा है और ठकुराइन रह रह कर मर्म भेदी चीत्कार कर उठती है। भाई बन्धु और रिश्तेदार सब खड़े समझा रहे हैं। यह भी ज्ञात हुआ कि ठाकुर ने एक पैसा भी नहीं छोड़ा। यहाँ तक कि ठकुराइन के पास जितना जेवर था सब उसने उतरवा कर कुन्तो को दे डाला था। ठकुराइन के दो तीन भाई थे जो सब आगये थे। यह सब कच्चा चिट्ठा जिसे ठकुराइन रो रोकर गाँव के समग्र जनों के सामने सुना रही थी सुनकर उन्हें बड़ा तैश आया। बोले—हम लोग अभी उसके यहाँ जाते हैं और उसका सब जेवर छीने लाते हैं। ठाकुर साहब के जीते जी उसने खूब मौज कर लिया। अब हम उसे घर से निकाल कर बाहर कर देंगे। घर तो हमारा हो है।

ठकुराइन ने कहा—'नहीं भैया। तुम लोग उसके यहाँ न जाओ। वह स्वयं इस समय दुःख में व्याकुल होगी। फिर उन्होंने उसे जो दिया वह तो सब उन्हीं का था। मेरा उसके ऊपर क्या अधिकार है औरतुम्हें ही क्या अधिकार है जो तुम उसे जाकर वापस लाओ। उनकी मर्ज़ी में मेरी भी रज़ा है और मैं यह सब नहीं होने देना चाहती। मैं किसी न किसी प्रकार अपना और अपने बच्चों का गुज़र कर ही लूंगी।'

परन्तु वे तो ठाकुर थे। पुरुष भी। नारी हृदय के भीतर की आवाज़ कैसे सुन लेते। तीनों युवक उत्तेजित हो कुन्ती के मकान की तरफ़ चल दिये। पीछे २ दस-बारह आदमियों की भीड़ होली 'जो बिन काज दाहिने बायें,' चल रहे थे। उनमें एक मैं भी था। सोचा आज कुन्ती को समाज, नैतिकता, मर्यादा और नारीत्व से द्रोह करने का फल मिलेगा। तब मैं ऐसा ही सोचता था और मेरे विचार ऐसे ही थे। जीवन का बहुत संकुचित रूप ही देख पाता था यद्यपि उसे आँख खोल कर देखने का पूरा प्रयास करता था। कुन्ती का घर वहाँ से लगभग १ फर्लाङ्ग पर था। रास्ते में ठकुराइन के एक भाई ने थाने पर से दो पुलिस वालों को भी साथ ले लिया। शायद अपने कृत्यों को न्याय और आईन से परिचित कराके उनका औचित्य कायम करने के लिए। उधर गाँव के लोग ठाकुर की मिट्टी उठाने जा रहे थे और इधर हम लोग कुन्ती के दरवाज़े पर पहुँचे। दरवाज़ा खुला था। बाहर से आवाज़ दी गई। जब कुन्ती न बोली तो बाहर ५-६ मिनट तक प्रतीक्षा करने के बाद सब लोग भीतर घुसे। नौकरानी भी शायद कुन्ती को ठाकुर की मृत्यु का हाल सुना कर फिर अपनी पुरानी मालकिन के पास लौट गई थी। आँगन में पहुँचते ही सब लोग चौंक पड़े। सामने का दृश्य बड़ा ही भयानक था। मैं तो सब से पीछे था और यहाँ तक आने में एक प्रकार की ग्लानि और आत्म-सङ्कोच सा हो रहा था। प्रेरणा फिर भी खींच लाई थी। इसलिए मैं सबसे बाद में चौंका, यद्यपि मेरा चौंकना जीवन भर के लिए था। हम लोगों ने जो देखा उसे कह ही देना होगा। सामने दालान में कुन्ती धन्नी से रस्सी बाँध कर निर्जीव,

निष्प्राण लटकी हुई थी। उसकी बड़ी-बड़ी निर्दोष आँखें रोते-रोते सूज गई थीं और मृत्यु की भयानक यन्त्रणा से अति विकृत हो गई थीं। जीभ बाहर निकल आई थी, परन्तु चेहरे पर एक अति मानवीय सौन्दर्य था। एक अनुपम नारी-भाव था मानो मर कर भी अपने मानवी होने का प्रमाण दे रही हो।

तीनों नवयुवकों की आँखों से ज्वालायें निकलने लगीं। परन्तु अन्त में न जाने कहाँ से पानी आकर छलक ही पड़ा। पुलिस वाले थाने की ओर चले दारोग़ा को ख़बर देने। गाँव वाले इस समाचार को ख़ूब विस्तार देने के लिए चल पड़े। रह गया मैं और केवल मैं। वहीं खड़े खड़े मैंने कुन्ती दीदी को देखना शुरू किया। न जाने क्यों पास जाने की हिम्मत न हुई। जिज्ञासा शान्त थी—चेतना मूक और प्रश्न अवज्ञा से दबा पड़ा था। इस आत्म व्यथा में मैं जो पा रहा था वही जैसे मेरा यह जन्म सफल कर देने के लिए काफ़ी जान पड़ता था। इस लड़की ने भी किस हौंस से जीना आरम्भ किया होगा। कैसी उमङ्ग से यौवन आने पर प्रेम के शरारे पहचाने होंगे। लेकिन आज कैसी ऊब, कैसी उकताहट ले यह चली गई। जिसकी रही हड्डी-हड्डी, मज्जा-मज्जा तक रही। मुझे यह भी याद आया—उसने उस दिन कितनी सच्ची ही यह कहा था—"छोटे भैया, तुम याद रखना, कुन्ती कभी वेश्यावृत्ति करके तुम लोगों का मुँह काला नहीं करेगी।" आज मालूम हुआ इस निचाई में भी एक ऊँचाई और महत्ता थी। आज मैंने उसे जाना और सहन किया।

तब से आज तक यह सब आँखों के सामने घूमा करता है। अभी

वो घाव ताज़ा है। ज़्यादा दिन भी नहीं हुए। केवल ८ साल की घटना है। जीवन में तब से एक गाँठ पड़ गई है। आवले की तरह यह सब उठा—हृदय में और आज नासूर बन कर बहता जाता है। जैसे सृष्टि, समाज, जीवन और मृत्यु सभी अर्थहीन गूँगे और तर्क संगति से रहित हों। कोई बात पकड़े नहीं मिलती। मन घुटा करता है। दुनिया को देखने की निगाह ही बदल गई है। ज़िन्दगी की एक-एक जड़ जैसे इस महाविषाद और प्रतारणा से सिंच चुकी है। हम किसे क्या कहें और समझें। किस के मानस की गहराई तक हमारी पहुँच है। किसके जीवन की अन्तर्शिखा हम देख पाते हैं।

जीवन की गलियों में भटकता हुआ मैं कुन्ती को कभी "भूल न सकूं" यही मेरी पुकार है।

# हत्यारा

The stories in this book are very good. Indeed, the praise done by all candidates is true.

[illegible signature]

जीवन भर अभावों और बेचैनियों से लड़ते लड़ते एक दिन राम-दीन ने देखा कि उसके जीर्ण, नष्ट-प्राय झोंपड़े के सामने का तालाब भी सूख चला है।

यह तालाब रामदीन का बहुत पुराना साथी, सच्चा हमदर्द था। एक दुःखद धुँधलेपन के साथ उसे याद आया कि इसी तालाब के किनारे बचपन में उसने दिन-दिन भर मस्ती के साथ समय बिताया है। जेठ वैशाख की उबलती दोपहरियों में, सावन भादों की उमड़ती बदली और धुँआधार वारिश में, शरद् के प्रभातों की निखरी रोशनी में और हेमन्त की दाँत बजाने वाली नग्न ठिठुरन में, इसी तालाब में उसने अपने काले पंक-पूरित शरीर को जी भर-भर डुबोया है। इसी तालाब के किनारे बचपन में उसकी माँ बैठ कर बरतन माँजा करती थी। इसी तालाब के किनारे नित्य बरतन माँजते-माँजते उसकी औरत भरी जवानी में एक अधमरा सा मांसपिण्ड प्रसव करके अपने भगवान के घर चली गई। आज भी उसकी बेवा अन्धी बहू बिंदिया इसी तालाब

के किनारे बैठकर मूक मन्थर संचार-हीन यन्त्र-सी जीवन के निर्जीव संस्मरणों को चमकाया करती है। रामदीन ने वे दिन भी देखे हैं, जब इसी तालाब के चारों ओर सिंघाड़े की बेलों का संसार छाया रहता था। कुछ नीला, कुछ सफेद पानी साफ बड़ी-बड़ी बूँदों में, चारों ओर टुकुर-टुकुर निहारा करता था। आज रामदीन ने भले ही जीवन पर, प्रतिक्षण घटित होने वाले परिवर्त्तन पर विजय पा ली हो, भले ही वह इन्क़िलाब की दुनियाँ से निकल कर कठोर-जड़ता, शेष-जीवन-व्यापिनी एकरसता का एक दुखता हुआ अंग बन गया हो। पर यह तालाब तो जीवित रहने के लिए नहीं जी रहा था। भले ही रामदीन के सामने उसका हाथी सा जवान लड़का मेढ़क की तरह दम तोड़ कर उसकी छाती पर अपनी अन्धी चट्टान रख कर भूखे प्यासों की इस बेहया बस्ती से दूर निकल गया हो, और रामदीन को अपने दैनिक कार्य-क्रम में एक निदारुण, कर्कशता एक टीस भरी टंकार के अतिरिक्त अब और कुछ अवशेष न हो, पर शीतल छाती वाले इस मुक्त जल कल्लोल प्रवाह में कौन सी आँच पहुँच गई।

दिन चढ़ चुका था। काफ़ी से ज्यादा। अन्धी बिन्दिया जाँत पीस रही थी। रामदीन ने खाँसते हुए पुकारा—"बहू !"

"क्या है दादा !"

"हमारे मकान के सामने का तालाब सूख गया। तुम तो देख ही नहीं सकती बहू ! मैं तो उसे शुरू से देखता आया हूँ। इसके पानी की एक-एक धार किनारे की एक-एक सेवार, एक-एक काई मेरी पहिचानी हुई है।"

"होगा दादा !" बिंदिया ने गीले कण्ठ से कहा—दुर्दिन में खूँटी भी हार लील लेती है। मैं अन्धी ठहरी। इस तालाब से पानी ले आती थी। किनारे बैठ कर बर्तन माँज लेती थी। अब न जाने कहाँ जाना होगा। यदि मैं न जा सकूँगी, उतनी दूर, तो तुम्हें ही जाना होगा।"

"मगर इसको अभी सूखने की क्या ज़रूरत थी। शुरू से इसने मेरा साथ दिया। फिर मेरी ज़िन्दगी में यह क्यों सूखा ! मेरे मरने के बाद इसका सूखना, न सूखना मेरे लिए कोई विशेष अन्तर नहीं रखता। नदी के उस पार जब मुसाफ़िर निकल गया, तब इस पार चाहे आग लगे, चाहे बिजली गिरे, उसे क्या ? आदमी की ज़िन्दगी भी तो कुछ ऐसी ही होती है, बहू।"

बिंदिया की अन्धी सत्ता पूर्ण-रूप से मूक चीत्कारों में उसकी दृष्टि-हीन पुतलियों को छेद-छेद कर मानों रामदीन की बात का समर्थन कर उठी।

२

रामदीन का काम था, दिन भर सिर पर टोकरा रख मज़दूरी करना और बिंदिया का घर पर रह कर अन्धकार के महासागर में एकाकी टकराते रहना।

शाम को जब रामदीन लौटा, बिंदिया और उसका तीन साल का बच्चा आकर झोंपड़े के दरवाजे पर खड़े हो गए। यही, वह स्थल होता है, जब एक भिखारी भी बादशाह हो जाता है। उसे प्रतीत होता है, उसमें भी कुछ शक्ति, बल और क्षमता है। वह भी दो को खिला कर

खाता है। पर आज तो रामदीन दिन भर में एक पैसे की बीड़ी उधार लेकर पी गया था; कहीं भी कुछ काम न मिला। घर में कुछ था ही नहीं। विंदिया उसकी जड़, मौन, पत्थर चेष्टा देख कर समझ कर जान गई —आज की रात्रि काल-रात्रि होने वाली है। यह उसके जीवन में पहला मौक़ा नहीं था। जीवन की कितनी ही राते उसने इसी मौत जैसी ठण्डी निराशा में भिगो डाली है और सारी रात उसी के गीलेपन में अपनी दृष्टिहीन आँखों की तरी को एकाकार करती रही है। वह भूखी रह सकती थी। रामदीन भी यदि औसत लगाया जाय, तो क़रीब-क़रीब आधी ज़िन्दगी भूखा ही रहा होगा। पर तीन साल का 'टीपू'! नन्हा और जीवन के नरक से अपरिचित!

विंदिया काँप उठी। घर में एक पैसा नहीं है। आस-पास दूर-दूर तक कोई झोपड़ी मकान भी नहीं है। रात में उसने गेहूँ पीसे थे। मजूरी के पैसे पहले ही मिल चुके थे। यदि ज्ञात होता, तो उसमें से पाव-आध सेर आटा निकाल लेती। अपने लिए नहीं, अपने उस सजीव मांसपिण्ड के लिए जिसे उसने पौन साल अपने अधभूखे पञ्जर में पाला था। रात भर झोपड़ी के अन्दर एक तरफ़ रामदीन पड़ा, खाँसता रहा, और दूसरी ओर विंदिया अपने तीन साल के भूखे बच्चे को समेटे ज्यों की ज्यों पड़ी रही। रात को चौथे पहर उसे हहराकर बुखार चढ़ आया। उसकी कराहों में मासूम बच्चा भी जग कर घबराकर रो उठा।

रामदीन ने जब सुबह उठकर झोंपड़ी का चट्टर एक ओर हटाया, तो तालाब की ओर देखते ही वह फिर उदास हो गया। उसे रहरह कर

यही मालूम होता, जैसे यह कोई बहुत बड़ी आग है, जो धरती के भीतर ही भीतर सुलग रही है। अगर इतना बड़ा और इतना पुराना तालाब उसकी अगोचर, अविजानित आँच में सूख जा सकता है, तो इस बस्ती, इन मकानों इन मन्दिरों के जलने में भी अब देर नहीं है। वह भयभीत सा होने लगा।

रोज़ की तरह वह फिर अपना टोकरा सँभाल कर काम को तलाश में निकला। एक मज़दूर की ज़िन्दगी ही क्या ! न घर में आटा था, न पास में पैसा। विंदिया घर में पीस कर कुछ पैसे पा सकती थी। आज वह अपनी ही यन्त्रणा में झुलसी जा रही थी। बनिए के कई रुपए हो गए थे, जो रोज़ तकाज़ा करता था। मारने की धमकी के साथ-साथ। सोचा, चलूँ—जाते ही जो कुछ मिलेगा, उसे घर में लाकर पहले टीपू को खिला दूँगा। फिर बोझा ढोकर शाम को अपने और विंदिया के लिए पकाऊँगा।

मगर पूरा दिन उसी तरह बीत गया। उसी सरलता और उद्भावना से। दिन भर तलाश में रहा। न जाने कितनों से याचना की—भीख माँगी। मगर एक पैसा भी न मिला। एक-एक क्षण आग का तिनगा हो रहा था। आत्मा और कलेजे को जलाता हुआ वेग के साथ चला जाता। शाम को भूखा, निराश, थका हुआ घर लौटा ! टीपू भूख से व्याकुल होकर विंदिया से रोटी मांग रहा था और रो रहा था। उसका मुँह सूखकर छोटा सा हो गया था। आँखों में भूख, तृष्णा। मगर रोटी वहाँ, कहाँ ? वह गरीब तो स्वयं रो रही थी। अपनी पीड़ा भूख से नहीं, वरन् अपने कलेजे के टुकड़े को विलखते

देखकर। वह अन्धी थी। दुनिया को तो न देख सकती थी, पर उसके शरीर का कोई भाग-भले ही अब वह स्वतन्त्र अस्तित्व बन गया हो—भी तो उससे छिपा हुआ न था।

उसके रोम-रोम से धुआँ निकल रहा था।

रामदीन को देखते ही टीपू उससे लिपट गया और कुर्त्ता उठाकर अपना भीतर का धँसा हुआ सिकुड़ा पेट दिखाने लग। रामदीन तो उस समय बेहोश सा था। उसे यह भी न मालूम हुआ, कि कब उसके सीने से लिपटा हुआ बच्चा सो गया। जिसके गालों पर आँसुओ की नीली रेखाएँ अपनी शुष्क प्रगति छोड़ गईं थीं।

सोकर उठते ही फिर सुबह काम की खोज में निकला। टीपू को सोते से जगाने की हिम्मत नहीं पड़ी। अगर उसने रोटी माँगी तो क्या दूँगा। मगर क्या होने वाला था! उस दिन भी कोई काम न मिला। वह पागल की तरह सड़कों पर घूमता रहा। किसी ने उसकी ओर नहीं देखा। एक बाबू साहब अपने बच्चे को लिए जा रहे थे। उसके हाथ में बिस्कुट थे। वहीं पर बच्चे का एक बिस्कुट गिर पड़ा। रामदीन ने झपटकर उसे उठा लिया और तेज़ी से घर की ओर भागा।

टीपू भूख से तड़प कर सो गया था। विदिया पड़ी थी। आँखे बरसाती नाले सी चल रहीं थीं। तीन दिन में महीनों की सी बीमारी घेरे थी, जैसे टूट गई हो। मुँह से बोल नहीं निकलता था। बच्चे को जगाया। बिस्कुट खाने को दिया। दो दिन की भूखी रोगिणी और भूखा रामदीन गम खाकर लेट गए।

तीसरे दिन भूख की ज्वाला से स्वयं सुलगता हुआ, जब रामदीन घर लौटा, तो उसके पैर काँप रहे थे। अंगों से शोले निकल रहे थे। लड़खड़ाता हुआ वह घर में घुसा। बच्चा जमीन पर पड़ा था--आँखें गड्ढे में घुस गईं थीं। खाट पर पड़ी बिंदिया शिथिल कातर थी। अन्धी थी, पर बच्चे की तरफ ही देख रही थी। बीच-बीच में टीपू आर्तनाद करता हुआ उसकी ओर देख लेता था। बिंदिया ने रामदीन की मूक वापसी से सब कुछ जान लिया।

टीपू रामदीन को देखते ही झपट कर उठा—बाबा, रोटी लाये। दो—अभी दो। कच्ची ही दो।

निरीह झोंपड़ी की गोद। रात काली और भयानक। आकाश में तारे सिसके रहे थे। नीचे हाहाकारमयी यन्त्रणा में ये प्राणी। कुशल इतनी ही थी कि झोंपड़ी की छत से टकरा कर उनका आर्तनाद भीतर हीं उमसकर रह जाता था। बाहर नहीं निकल पाता था। नहीं तो... ...जाने भी दो।

रामदीन का रक्त-प्रवाह भी रुक सा रहा था। झोंपड़ी की छत की साँसों से जो आस्मान दिखाई देता था, वह भी थरथरा रहा था। टीपू उसके पास ही लेटा था। रामदीन की पूरी ज़िन्दगी अपनी सारी तस्वीरें लेकर उसकी आँखों में घूम चलीं। बीच-बीच में जब टीपू धीरे से क्षीण-प्राय कण्ठ से 'रो—टी' कह उठता, उस समय राम-दीन के सामने के चल-चित्रों का सिलसिला खट से टूट जाता। 'तीन दिन का भूखा टीपू!' रामदीन आगे कुछ सोच न सका। भूख में घुटता हुआ अबोध शिशु और दूसरी ओर अन्धी बहू की असह्य

वेदना। रामदीन टीपू के शरीर पर हाथ फेरने लगा। टीपू ने कुम्हला कर आँखें खोली। उस सूखे तालाब-सी ही जड़ता और स्थिरता उनमें भी आ चली थी। पुतलियाँ ऊबड़-खाबड़ मिट्टी की ऐंठी अकड़ी दर्रारों की भाँति ही भयावह हो रही थीं।

रामदीन को ज्ञात हुआ, जैसे वह शराब के नशे में है। अचेतन अवसाद पूर्ण असार। अपने शरीर, हाथ, आँख, दिल किसी पर उसका अधिकार नहीं। सब उसके हाथ से बाहर निकले जा रहे हैं। टीपू ने फिर एक बार कोशिश करके रोटी माँगी। रामदीन के दुर्बल गतिहीन हाथ टीपू के गले पर दौड़े। वक्र निःसत्व उँगलियाँ कफ़न का ताना-बाना गूथ चलीं।

कई मिनट वह स्तब्ध और पत्थरवत् खड़ा रहा। नशा अभी खत्म नहीं हुआ था। तीन दिन का भूखा टीपू तो अपनी मंजिल की ओर चल पड़ा था।

नशा उखड़ा, सपना टूटा और चेतना में भूडोल आया। रामदीन तीर की तरह उठ बैठा। बिंदिया के पास चला गया। आधी बेहोश और आधी सोई हुई, वह तीन दिन की भूखी अन्धी मानों सपने में टीपू को भर पेट मिठाई खिला रही थी। रामदीन ने पास आकर उसे झकझोर डाला, परन्तु फिर भी कदाचित् उसका वह समाँ न टूटा। लेकिन रामदीन ने जब मतवालेपन की सी मादकता में उसका गला घोंटा, तब तो वह उसी प्रकार कें-कें कर उठी जैसे सड़क पर पड़े कुत्ते ऊपर से लारी निकल जाने पर चीखते।

रामदीन फिर झोंपड़े में फावड़ा तलाश करने लगा। तीन दिन के

भूखे शरीर में भी दफनाने की ताक़त शेष रह ही जाती है। तालाब की सूखी ज़मीन में रात को अखण्ड रूप से उसका फावड़ा चलने लगा। सुबह होते-होते दो गढ़े तैयार हो गए। एक में उसने भीतर से लाकर टीपू को गाड़ दिया और दूसरे के लिए विंदिया को लाने चला। आज जब वह फटती हुई पौ में अपनी अन्धी बहू को दोनों हाथों में उठाए, झोंपड़ी से गढ़े की ओर चला तो उसका शरीर थर-थर काँप उठा। पैर लड़खड़ाने लगे और आँखों से तीन-चार बूँद पानी चू पड़ा। इससे ज्यादा की कदाचित् गुंजाइश न थी।

दूसरे गढ़े में विंदिया को गाड़कर दोनों गढ़ों पर मिट्टी तोपकर जब वह हाँफते-हाँफते खड़ा हुआ, तो उसने एक सहूलियत की साँस ली। दोनों को एक साथ न गाड़ कर उसने अलग-अलग गाड़ा था। कहीं कब्र में भी टीपू विंदिया से रोटी न माँगे। मरने के बाद भी प्राणी की भूख प्यास कहीं चली नहीं जाती, ऐसा उसका विश्वास था। उसने अपने संगी रघुनाथ से सुना था, कि कैसे उसका भूखा जवान लड़का, जो बिना दवा, पथ्य और रोटी के मरा था, नित्य उसके खाने के समय काँपता हुआ धीरे-धीरे अज्ञात अलक्ष्य से उतर कर थाली के पास बैठ जाता था। आज वह इस अवस्था में भी रघुनाथ की बात याद आते ही कंटकित हुआ। उसका एक-एक रोम खड़ा हो गया। वहीं, वह धम्म से बैठ गया।

धीरे-धीरे दोपहर की किरणें आकाश में ऊपर चढ़ने लगीं। रामदीन कब तक वहाँ पड़ा रहा, विक्षिप्त और संत्रस्त, वह नहीं जान पाया। सहसा जब उसकी दिवा-अचेतना टूटी, तो उसने देखा, उसे पाँच-छः

लोग घेरे खड़े हैं, जिनमें दो पुलिस वाले भी हैं। उनके साथ चल पड़ने के लिए प्रस्तुत होते ही वह तालाब की ओर देख कर बड़े जोर के साथ चिंग्घाड़ उठा।

तालाब में फिर पानी लहरा रहा था, पर इस बार उसका रंग फीका लाल था।—कुछ-कुछ वैसा ही, जैसा मछलियों को काट कर, धोने पर, उनका धोवन।